54/2

अनेकान्त

वीर सेवा मंदिर
21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

वीर सेवा मंदिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

प्रवर्त्तक : आ. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

इस अंक में -

कहाँ/क्या?

वर्ष-54, किरण-2
अप्रैल-जून 2001

सम्पादक :
डॉ. जयकुमार जैन
261/3, पटेल नगर
मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)
फोन : (0131) 603730

परामर्शदाता :
पं. पद्मचन्द्र शास्त्री

सस्था की
आजीवन सदस्यता
1100/
वार्षिक शुल्क
15/-
इस अक का मूल्य
5/-
सदस्यो व मंदिरो के
लिए नि:शुल्क

प्रकाशक .
भारतभूषण जैन, एडवोकेट

मुद्रक ·
मास्टर प्रिन्टर्स-110032

विशेष सूचना : विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र है। यह आवश्यक नही कि सम्पादक उनके विचारों से सहमत हो। इसमें प्राय: विज्ञापन एवं समाचार नही लिए जाते।

वीर सेवा मंदिर

21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, दूरभाष : 3250522

सस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80 जी के अतर्गत आयकर मे छूट

(रजि आर 10591/62)

गुरु समान दाता नहिं कोई

गुरु समान दाता नहिं कोई।
भानु प्रकाश न नाशत जाको,
सो अंधियारा डारै खोई।।

मेघ समान सबनपै बरसै,
कछु इच्छा जाके नहिं होई।
नरक पशुगति आगमांहितैं,
सुरग मुकत मुख थापै सोई।।

तीनलोक मंदिर में जानौ,
दीपकसम परकाशक लोई।
दीपतलै अंधियारा भर्यो है,
अन्तर बहिर विमल है जोई।।

तारण तरण जिहाज सुगुरु हैं,
सब कुटुम्ब डोवै जगतोई।
'द्यानत' निशिदिन निरमल मन में,
राखो गुरुपद पंकज दोई।।

- कविवर द्यानतराय

जैन धर्म की प्राचीनता

- डॉ. जय कुमार जैन

विश्व के धर्मों में जैन धर्म का एक विशिष्ट स्थान है। इसकी परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। यूरोप में जैन ग्रन्थों के उपलब्ध न होने के कारण यूरोपीय संस्कृतज्ञ विद्वान् विल्सन, वेबर आदि जैन धर्म को भगवान् महावीर से प्रारम्भ मानते थे। पाश्चात्य परम्परा के अन्धानुगामी कुछ भारतीय पण्डित भी ऐसा मानने की भूल कर बैठे, किन्तु धीरे-धीरे प्राच्य-पाश्चात्य विद्वानों ने अपनी भूल का सुधार किया और अब वे यह स्वीकार करने लगे हैं कि महावीर से पहले भी जैन तीर्थकर और हो चुके थे, जिनके नाम, जन्मवृत्तान्त आदि जैन साहित्य में पूर्णतया सुरक्षित हैं। इन तीर्थकरों में ऋषभदेव या वृषभदेव प्रथम हैं, इसीलिए उन्हें आदिनाथ भी कहा जाता है।

भारतीय संस्कृति में अनादि काल से निवृत्तिमार्गी श्रमण परम्परा एवं प्रवृत्तिमार्गी ब्राह्मण परम्परा एक साथ विद्यमान रही हैं। समय-समय पर दोनों में परस्पर आदान-प्रदान भी होता रहा है। इसी कारण कुछ भ्रान्तियां हुई, कुछ उलझाव भी हुआ। यहां पर जैनेतर धर्मो में उल्लिखित तथ्यों के आधार पर उन उलझनों को सुलझाने का प्रयास किया गया है और उन्हीं निष्कर्षो तक पहुंचाया गया है, जो जैन परम्परा में मान्य है।

ऋग्वेद उपलब्ध विश्व वाङ्मय में प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है, अतः ऐतिहासिक जानकारी के लिए उसकी महत्ता को नकारा नहीं जा सकता है। ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में ऋषभ शब्द का उल्लेख हुआ है। यद्यपि वेद के भाष्यकारों ने इसका अर्थ तीर्थकर ऋषभदेवपरक नहीं किया है, तथापि प्राच्य-पाश्चात्य इतिहासज्ञ उन उल्लेखों में ऋषभदेव की स्तुति मानते हैं। इस सन्दर्भ में कुछ मन्त्र द्रष्टव्य हैं-

'ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषासहिम्।
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराज गोपतिं गवाम्।। ऋग्वेद 10.166.1

'अनर्वाणं ऋषभं मन्द्र जिध्वं वृहस्पतिवर्धया नव्यमर्कै:'
ऋग्वेद 10.190.1

'एव बभ्रो वृषभ चेकितान यथा देव न हृणीषे न हंसी।'
ऋग्वेद 2.23.15

ब्राह्मण ग्रन्थों में ऋषभ को पशुपति कहा गया है। (ऋषभो वा पशूनामधिपति:-ताण्ड्य ब्राह्मण, ऋषभो वा पशूनां प्रजापति:-शतपथ ब्राह्मणं) यहां ज्ञातव्य है कि इन्हीं ब्राह्मण ग्रन्थों में पशु का अर्थ श्री, यश, शान्ति, धन और आत्मा किया गया है। इनकी संगति ऋषभदेव के साथ समुचित घटित हो जाती है। इन्हीं आधारों पर डॉ. एस. राधाकृष्णन् जैसे मनीषियों ने यह स्वीकार किया है कि वेदों में ऋषभदेव आदि जैन तीर्थकरों के नाम आये हैं।

ऋग्वेद में वातरशना मुनियों का वर्णन आया है। वातरशना का अर्थ वही है जो दिगम्बर का। क्योंकि वायु है मेखला जिनकी या दिशायें हैं वस्त्र जिनके-ये दोनों ही अर्थ नग्नता रूप एक ही भाव को इंगित करते हैं। वातरशना मुनियों को मलधारी कहा गया है।

-**'मुनयो वातरशना पिशङ्गाः वसते मला:।** ऋग्वेद 10.135.5

जैन मुनि के अस्नानव्रती होने से संभवत: ऐसा कहा गया है। वेदों में शिश्नदेव शब्द का उल्लेख भी कदाचित् जैन मुनि के लिए ही हुआ है। ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में व्रात्यों का उल्लेख आया है। कर्मकाण्डी ब्राह्मण इनसे द्वेष करते थे। मनुस्मृति में लिच्छवियों को व्रात्य कहा गया है। ज्ञातव्य है कि महावीर की माता लिच्छवी गणतन्त्र के प्रधान जैन राजा चेटक की पुत्री थी। व्रात्य का अर्थ है व्रत में स्थित। ये निवृत्ति मार्गी जैन परम्परा के पूर्व पुरुष कहे जा सकते हैं। उपनिषदों में क्षत्रियों की चिन्तनधारा है। यहां पर आत्मतत्त्व का विस्तार के साथ विचार हुआ है। उपनिषदों की विचारधारा वैदिकधारा से कटी हुई सी तथा निवृत्तिमार्गी निर्ग्रन्थ जैन धारा से अत्यन्त प्रभावित प्रतीत होती है।

महाभारत में एक श्लोक प्राप्त होने का उल्लेख मिलता है, जिसमें कहा गया है कि हे अर्जुन! अब तुम रथ पर आरोहण करो और गाण्डीव को धारण कर लो। समझो कि तुम पृथिवी को जीत चुके हो। क्योंकि सामने निर्ग्रन्थ गुरु विद्यमान हैं।

'आरोह रथं पार्थ गाण्डीवं चापि धारय।
निर्जितां मेदिनीं मन्ये निर्ग्रन्थो गुरुरग्रतः॥

इससे स्पष्ट है कि महाभारत काल में जैन मुनि का अनन्त सम्मान था और उनका दर्शन शुभसूचक माना जाता था।

वेद ब्राह्मण, महाभारत के उल्लेखों के अतिरिक्त वैदिक पुराणों में ऋषभदेव का विस्तृत वर्णन मिलता है। यह वर्णन जैन परम्परा में उपलब्ध वर्णन से अधिकांश समान है। श्रीमद्भागवत में तो उन्हें ईश्वर का आठवां अवतार कहकर प्रतिष्ठा दी गयी है। वहां यह भी कहा गया है कि ऋषभ के सौ पुत्रों में भरत ज्येष्ठ थे और उन्हीं के नाम से यह देश भारतवर्ष कहलाया।

येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीत्,
येनेदं वर्ष भारतमिति व्ययदिशन्ति। -पंचमस्कन्ध
तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायणपरायणः।
विख्यातवर्षमेतद् यन्नाम्ना भारतमद्भुतम्॥ -एकादश स्कन्ध

भागवत के अतिरिक्त मार्कण्डेय पुराण, अग्निपुराण, वायुपुराण, कूर्मपुराण, गरुणपुराण, लिंगपुराण, वराहपुराण, विष्णुपुराण, स्कन्दपुराण एवं ब्रह्माण्डपुराण में भी ऋषभदेव का वर्णन आया है। जो जैनधर्म की प्राचीनता के साथ-साथ उसकी महत्ता की अपरिहार्यता का भी सूचक है।

स्कन्दपुराण के प्रथमखण्ड में वर्णन आया है कि अपने पूर्वजन्म में वामन ने तप किया है। उस तपस्या के प्रभाव से शिव ने वामन को दर्शन दिये। वे शिव श्यामवर्ण दिगम्बर जैन पद्मासन से स्थित थे। वामन ने उनका नाम नेमिनाथ रखा। यह नेमिनाथ इस कलियुग में सर्वपापनाशक हैं। उनके दर्शन से कोटि यज्ञों का फल मिलता है। महाभारत के कुछ संस्करणों में एक श्लोक मिलता है -

रेवताद्रो जिनो नेमिर्युगादिर्विमलाचले।
ऋषीणामाश्रमदेव मुक्तिमार्गस्य कारणम्॥

रैवत (गिरनार) पर्वत पर जिन का उल्लेख और स्कन्दपुराण का उक्त वर्णन जैनधर्म के 22वें तीर्थकर श्रीकृष्ण के चचेरे भाई नेमिनाथ के साथ अद्भुत साम्य रखता है, किन्तु अन्य वैदिक पुराणों में नेमिनाथ का स्पष्ट उल्लेख न होना विचारणीय है। जैन परम्परा में नेमिनाथ विषयक साहित्य में श्रीकृष्ण का सर्वत्र उल्लेख मिलता है। यहां तक कि नेमिनाथ की मथुरा से प्राप्त मूर्तियों में कृष्ण और बलराम का अंकन दोनों तरफ पाया गया है। तेईसवें तीर्थकर पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता अब असंदिग्ध है। वे चातुर्याम धर्म के उपदेशक के रूप में विख्यात रहे हैं। बौद्ध ग्रन्थ धम्मपद के ब्राह्मण वग्ग में जिस धर्म का उल्लेख हुआ है, वह तीर्थंकर पार्श्वनाथ द्वारा प्रतिपादित चातुर्याम धर्म से अभिन्न है। गौतम बुद्ध का चाचा वप्प पार्श्वनाथ की परम्परा का अनुयायी था। बौद्ध साहित्य में महावीर का तो निगण्ठनात पुत्र के नाम से बहुधा वर्णन है ही, ऋषभदेव का भी उल्लेख हुआ है -

'आभं पवरं वीरं महेसिं विजितविनं' -धम्मपद, गाथा 423

आर्यमंजुश्री मूलकल्प नामक ग्रन्थ में आदिकालीन राजाओं के वर्णन के प्रसंग में नाभिपुत्र ऋषभ और ऋषभपुत्र भरत का वर्णन किया गया है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई से प्राप्त सिक्कों एवं मूर्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि सुदूर प्रागैतिहासिक काल में जैनधर्म बहुत व्यापक धर्म था तथा जिनों की राष्ट्रीय स्तर पर पूजा होती थी। प्रसिद्ध पुरातनवविद् श्री चन्दा एवं राधा कुमुद मुखर्जी तो मोहनजोदड़ो से प्राप्त योगी की मूर्ति को ऋषभदेव की मूर्ति मानते हैं।

उक्त जैनेतर प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है कि जैन परम्परा के साथ ही जैनेतर धारायें भी जैनधर्म की प्राचीनता को एवं उसकी महत्ता को स्वीकार करती रही है।

●●

आर्ष-मार्ग

लेखक-जवाहरलाल सिद्धान्त शास्त्री, भीण्डर (राज.)
अनुमोदक-डॉ. पन्नालाल जी साहित्याचार्य, सागर-जबलपुर
पं. नाथूलाल जी शास्त्री प्रतिष्ठाचार्य इन्दौर
डॉ. चेतन प्रकाश पाटनी जोधपुर
पं. सागरमल जी विदिशा
डॉ. जय कुमार जी जैन मुजफ्फरनगर

A. 'ऋषि प्रणीत शास्त्र' को आर्ष कहते हैं। अत: ऋषियों (आचार्यो-साधु परमेष्ठियों) की वाणी को मुख्यता से प्रामाणिक मानने वाला मार्ग आर्ष-मार्ग कहलाता है।[1]

B जिनेन्द्र देव वीतराग, सर्वज्ञ व हितोपदेशी होते हैं।

C. आत्मा तथा परमात्मा की शरण संसार नाश के अनन्य उपाय हैं।

D. अनादि से जितने द्रव्य हैं उतने ही आज भी हैं। न घटा न बढ़ा। अत: यह स्पष्ट है कि कोई किसी का कर्त्ता-हर्त्ता नहीं है।

E. सब कुछ भाग्य और पुरुषार्थ के योग से ही होता है।[2]

F. वर्तमान काल के मुनिराज भी पूज्य हैं।[3]

G. पंचम काल के अन्त तक भावलिंगी मुनि होंगे।[4]

H प्रत्येक कार्य दो कारणों से होता है-अंतरंग कारण तथा बहिरंग कारण।[5]

I. शुद्धोपयोग सातवें गुणस्थान से प्रारम्भ होता है, इसके पूर्व नहीं।[6]

J. व्यवहारनय झूठ नहीं होता।[7]

K. अनेकान्त रूप समय के ज्ञाता पुरुष ऐसा विभाग नहीं करते कि 'यह नय सच्चा है और यह नय झूठा है'।[8]

L. पुण्य और पाप कथंचित् समान हैं और कथंचित् असमान।[9]

M. आत्मा शुद्धाशुद्ध का पिण्ड है, अतः वह कथंचित् शुद्ध है, कथंचित् अशुद्ध।

N. जो एक जिनवचन को भी नहीं मानता, वह मिथ्यादृष्टि है।[10]

O. चौथे गुणस्थान में गुणश्रेणी निर्जरा नहीं होती (कभी-कभी हो सकती है)।[11]

P. जिसका काल नहीं आया है उसका मरण नहीं हो सकता, ऐसा एकान्त नहीं है।[12] अतः अकालमरण सत्य है।

Q. अत्यन्त निष्काम पुण्य परम्परा से मोक्ष का कारण है।[13]

R पहले व्यवहार होता है, फिर निश्चय।[14] इत्यादि ....

टिप्पण -

1 इसका यह अभिप्राय है कि पंडितों के ग्रन्थों की प्रामाणिकता आचार्य प्रणीत ग्रन्थों के आधार से होती है।

2. जैसा केवलज्ञान में झलका है वही होता है यह सत्य है। तथैव यह भी सत्य है कि जैसा भाग्य व पुरुषार्थ का योग होगा, फल उसी के अनुसार होगा। अतः पुरुषार्थ में प्रवृत्ति करनी चाहिए।

3 आत्मानुशासन गाथा 33, प.प्र 2/37, मो पा. 77, सा ध 2/64, प.पं. 1/68 आदि।

4. त्रि सा 857 से 859 तथा ति.प 4/1520-1533

5. न्याय दीपिका 2/4/27, भ.आ. (विजयो.) 1070, क.पा 1/1/13। पृ 265, प.मु. 6/63, स्व.स्तो 33, 56, 60, स सि 5/30/300 तथा श्लोक वा. भाग 6 पृ. 197-198 एवं ज.ध. 15/191।

6. प्र सा. गाथा 9 टीका ता वृ, वही गाथा 181 ता.वृ., वृ.द्र.स 34, अ अ क. पृ. 374 (प जगमोहनलाल जी), जैन संदेश दि 6 5.58 पृ. 4, जैन गजट दि. 23.11.67 पृ. 8 तथा 15 2.73 पृ. 7 तथा 4 1.68 पृ 7, मुख्तार ग्रन्थ पृ. 833 प्र.सा. गाथा 230 ता वृ प प्र. 2/11। आदि सत्रह प्रमाण देखो :-वीतराग वाणी अप्रैल-मई 98 पृ 9-12।

7 ज.ध 1/7 ण च ववहारणओ चप्पलओ।

8. ते उण ण दिट्ठसमओ विहयइ सच्चे व अलीए वा। नया संस्करण ज.ध. 1/233।

9 मो पा.गा 25 तथा इष्टोपदेश तथा तत्त्वार्थसार (अमृतचन्द्र)।

10. भ.आ गाथा 38-39।

11 मो मा प्र (सस्ती ग्रन्थमाला प्रकाशन दिल्ली) अधि. 7 पृष्ठ 341, 308 तथा 364, धवला 8/83, रतनचन्द पत्रावली 18 1 80, मुख्तार ग्रन्थ पृ. 842, 1110 आदि, जयधवल 12/285, जैन सं. 11 12 58 पृ 5, जैन गजट 8.1.70 पृ. 7, फूलचन्द सि.शा पत्र 20.1.80 ई, धवल 6/236, बा.अणु. 67 का अ. 104, लब्धिसार (राजचन्द्र) पृ 74, क.पा. सूत्रा पृष्ठ 628-629 सर्वार्थसिद्धि पृ. 352 (ज्ञानपीठ) /// पेरा आदि। (इन सब प्रमाणो से यह भी सिद्ध होता है कि चतुर्थ गुणस्थान मे अविपाक निर्जरा नहीं होती। गुणश्रेणी निर्जरा अविपाक निर्जरा ही है।)

12 न ह्यप्राप्तकालस्य मरणाभाव., खड्गप्रहारादिभि.मरणस्य दर्शनात्। (रा वा 2/53 भाग 5 पृष्ठ 261-62 विद्यानन्दि स्वामी)

13 अत्यन्त निष्काम पुण्य अर्थात् निदान रहित पुण्य यानि भावी भोगों की इच्छा रहित पुण्यकर्म। करणानुयोग के अनुसार ऐसा पुण्य अनन्त जीवो मे से एक जीव ही संचित कर पाता है। ऐसा पुण्य सम्यग्दृष्टि ही संचित कर पाता है।

(i) निर्निदान-पुण्यं पारम्पर्येण मोक्ष-कारणं . ... .।

अर्थ-निदान रहित पुण्य परम्परा से मोक्ष का कारण है। (भावपाहुड 81 टीका)

(ii) एतत्पूजादिलक्षणं पुण्यं...... साक्षाद् भोगकारणं..... तृतीयादिभवे मोक्षकारणं निर्ग्रन्थलिगेन।

अर्थ-मोक्षार्थी द्वारा किया गया पूजा आदि पुण्य साक्षात् तो स्वर्गादि के भोग का कारण है। तीसरे आदि भव मे निर्ग्रन्थलिग द्वारा मोक्ष का कारण है। (भा.पा. 82 टीका)

(iii) परम्परया निर्वाणकारणस्य तीर्थंकरप्रकृत्यादि-पुण्यपदार्थस्यापि कर्त्ता भवति।

अर्थ- परम्परानिर्वाण के कारणभूत तीर्थंकर आदि पुण्य कर्म को सम्यग्दृष्टि बांधता है। स सा पृ 186।

(iv) व्रतदानादिकं सम्यक्त्वसहितं पुनः परम्परया मुक्तिकारणं। (स.सा 153 पीठिका)।

अर्थ-सम्यक्त्व सहित व्रतदानादिक परम्परा से मुक्ति का कारण है।

(v) तम्हा सम्मादिट्ठीपुण्णं मोक्खस्स कारणं हवई।
इय णाउण गिहत्थो पुण्णं चायरउ जत्तेण।।

(भावसंग्रह गा. 404 तथा 424)

अर्थ-सम्यग्दृष्टि का पुण्य मोक्ष का कारण है यह जानकर गृहस्थ को यत्नपूर्वक पुण्य का उपार्जन करते रहना चाहिए।

(vi) निदान-रहित . उत्तमसंहननादिविशिष्टपुण्यरूपकर्मापि सिद्धगते. सहकारी कारणं भवति। (पंचास्ति. गाथा 85 की टीका तथा अ.स.पृ. 257)

अर्थ-तीर्थंकर प्रकृति, उत्तम सहनन आदि विशिष्ट पुण्यकर्म भी सिद्ध गति के लिए सहकारी कारण है। (*see also* प पु. 32/183, मूलाराधना 745, उ अ 155)

(vii) शुभोपयोगः गृहिणां तु . . .. क्रमत परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्यः। (प्र सा 45 अमृतचन्द्रीय टीका)

अर्थ-शुभोपयोग गृहस्थ के क्रमश· परम निर्वाण सौख्य का कारण होता है।

(viii) शुभाशुभौ मोक्षबन्धमार्गौ। स.सा. 145 आ ख्या. टीका तथा जयधवल 1 पृष्ठ-6।

सार यह है कि निष्काम पुण्य (दान पूजादिक) तत्काल तो बन्ध का कारण होता है, परन्तु परिपाक (उदय) के काल में अत्यन्त निष्काम प्रशस्त परिणाम, उत्तम साधन, सत्संग आदि सिलसिलों को वह पुण्य प्रदान करता है। ये सभी कथंचित् रत्नत्रय के हेतु होते हैं। तथा रत्नत्रय से मोक्ष होता है। यही "परम्परा" शब्द का रहस्य है।

14. कुन्दकुन्द प्राभृत सग्रह प्रस्तावना पृ. 98 तथा मुख्तार ग्रन्थ पृ. 1344 से 1352।

(i) उदाहरण-प्रथम देशना लब्धि (व्यवहार) पश्चात् उपशम सम्यक्त्व (निश्चय) होता है।

(ii) पहले सुवर्ण पाषाण (व्यवहार) की प्राप्ति के बाद ही सुवर्ण (निश्चय) प्राप्त किया जा सकता है।

(iii) वस्त्र त्याग के बाद ही सयम (भावलिंग) सम्भव है। निश्चय की प्राप्ति के पूर्व भी व्यवहार को शक्ति की अपेक्षा व्यवहार (साधन) पना है ही। इतना अवश्य है कि व्यवहार-अवलम्बन के काल में लक्ष्य निश्चय का ही होना चाहिए।

●●

आदिपुगण में प्रतिपादित ध्यान के भेद-प्रभेद

- डॉ. श्रेयांस कुमार जैन

जैन संस्कृति के समग्र स्वरूप का प्रतिपादक आदिपुराण जैन साहित्य में ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में महत्वपूर्ण पुराण ग्रन्थ है। इसमें आचार्यवर्य श्री जिनसेन स्वामी ने युगप्रवर्तक देवाधिदेव प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और प्रथम चक्रवर्ती भरत के जीवन चरित को विस्तार पूर्वक वर्णित किया है साथ में इन दोनों शलाका पुरुषों से सम्बन्धित अन्य महापुरुषों और सामान्य जनों के जीवन वृत्तान्त को अन्तःकथाओं सहित चित्रित किया है। वर्ण्य शलाका पुरुषों के काल की सामाजिक और सांस्कृतिक विरासत को दर्शाने वाला यह महापुराण ग्रन्थ महाभारत और रामायण के समान विविध तत्त्वों और तथ्यों रूपी रत्नों को धारण करने वाला महार्णव है क्योंकि इसमें उक्त ऐतिहासिक ग्रन्थों के समान इतिहास पुरुषों के जीवन वृत्त का प्रतिपादन किया गया है और आगम तथा अध्यात्म विषयक विषयों का गुम्फन भी सहजता से किया गया है इसलिए महाभारत और रामायण के समान ही संस्कृत वाङ्मय में इसका गौरवपूर्ण स्थान है।

प्रथमानुयोग सम्बन्धी इस ग्रन्थराज में करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के प्रतिपाद्य विषयों का निरूपण ग्रन्थ की गरिमा की श्रीवृद्धि करने वाला है। आगम और अध्यात्म सम्बन्धी विभिन्न विषयों का वर्णन तो इस पुराण ग्रन्थ के गौरव को लोक शिखर पर पहुंचाने वाला है। मोक्षमार्गियों के लिए अध्यात्म विषय ही अत्यधिक उपयोगी और उपादेयभूत होते हैं। इन्हीं कल्याणकारी अध्यात्म विषयों के अन्तर्गत ध्यान का प्ररूपण आत्मोत्त्थान के लिए परम सहकारी है अतः आदिपुराण में वर्णित ध्यान के भेद-प्रभेद को समझने का सम्यक् उपक्रम किया जा रहा है।

"ध्यै चिन्तायाम्" धातु से ध्यान शब्द निष्पन्न हुआ है। शब्दोत्पत्ति की दृष्टि से ध्यान का अर्थ चिन्तन है किन्तु प्रवृत्ति लब्ध अर्थ उससे भिन्न है। इस दृष्टि से ध्यान का अर्थ है चित्त को किसी एक लक्ष्य पर स्थिर करना। आदिपुराण में तन्मय होकर किसी एक ही वस्तु में जो चित्त का निरोध कर लिया जाता है उसे ध्यान कहा है, वह ध्यान वज्रवृषभनाराचसंहनन वालों के अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक ही रहता है।[2] ध्यान के अनेक पर्यायवाची हैं यथा योग, समाधि, धीरोध अर्थात् बुद्धि की चंचलता को रोकना, स्वान्त:निग्रह अर्थात् मन को वश में करना और अन्त: संलीनता अर्थात् आत्मा के स्वरूप में लीन होना।[3] ध्यान विषयक मूल ग्रन्थों की अपेक्षा भिन्न कर्तृ करण और भाव साधन की विवक्षा से ध्यान शब्द की निरुक्तियां प्रस्तुत की हैं, जो इस प्रकार हैं-आत्मा जिस परिणाम से पदार्थ का चिन्तवन करता है, उस परिणाम को ध्यान कहते हैं, यह करण साधन की अपेक्षा ध्यान शब्द की निरुक्ति है। आत्मा का जो परिणाम पदार्थो का चिन्तवन करता है, उस परिणाम को ध्यान कहते हैं। यह कर्तृवाच्य की अपेक्षा ध्यान शब्द की निरुक्ति है क्योंकि जो परिणाम पहले आत्मारूप कर्त्ता के परतंत्र होने से करण कहलाता था, वही अब स्वतंत्र होने से कर्त्ता कहा जाता है और भाव वाच्य की अपेक्षा करने पर चिन्तवन करना ही ध्यान की निरुक्ति है।[4] यहां आचार्य जिनसेन ने शक्ति के भेद से ज्ञान स्वरूप आत्मा के एक ही विषय में तीन भेद दर्शा दिए हैं। करण कर्तृ भाव वाच्य निरुक्तियों से अनुप्रेक्षा या चिन्ता रूप अर्थ की निष्पत्ति होती है क्योंकि चिन्तवन में चित्त की चंचलता को अवकाश है अतएव जो चित्त का परिणाम स्थिर होता है, वह ध्यान है।[5] चित्त के साथ शरीर और वाणी की भी निष्प्रकम्प स्थिति ध्यान कहलाती है। जैनाचार्यो की दृष्टि से मन, वचन और काय तीनों की स्थिरता का सम्बन्ध ध्यान से बतलाया है किन्तु पंतजलि ने ध्यान का सम्बन्ध केवल मन से ही माना है।[1] विसुद्धिमग्ग[7] के अनुसार ध्यान मानसिक ही है। जब तक शरीर और वाणी मन सहित एक रूपता को प्राप्त नहीं होते तब तक ध्यान की पूर्णता असंभव है इसीलिए आचार्य कहते हैं कि जहां पर मन एकाग्र होकर अपने लक्ष्य के संलग्न होता है,

शरीर और वाणी भी उसी लक्ष्य की ओर लगते हैं वहां पर मानसिक, वाचिक और कायिक ये तीनों ध्यान एक साथ हो जाते हैं।[8] अर्थात् तीनों की एकता हो जाती है, स्थिरता हो जाती है।

आचार्य जिनसेन ने ध्यान को ज्ञान की पर्याय कहा है उनका कहना है-

यद्यपि ज्ञानपर्यायो ध्यानाख्यो ध्येयगोचरः।
तथाप्येकाग्रसंदष्टो धत्ते बोधादि वान्यताम्॥ 21/15 आ.पु.

अर्थात् यद्यपि ध्यान ज्ञान की ही पर्याय है और ध्यान करने योग्य पदार्थो को ही विषय करने वाला है तथापि एक जगह एकत्रित रूप से देखा जाने के कारण ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्यरूप व्यवहार को भी धारण कर लेता है।

सिद्धि की प्राप्ति हेतु विचारों का एकाग्र होना आवश्यक है यही कारण है कि भगवद्गीता[9], मनुस्मृति[10], रघुवंश[11] और अभिज्ञानशाकुन्तलम्[12] आदि में ज्ञान से ध्यान को विशिष्ट कहा गया[13] है क्योंकि "स्वस्थे चित्ते बुद्धयः प्रस्फुरन्ति" अर्थात् ध्यान से मन स्थिर और शान्त हो जाता है, उसमें बुद्धि की स्फुरणा होती है।

वैदिक परम्परा में ज्ञान से ध्यान को विशिष्ट कहा है, किन्तु आदिपुराणकार तो ध्यान को ज्ञान की ही पर्याय स्वीकार करते हैं। साथ में उन्होंने ज्ञान की शुद्धि से ध्यान की शुद्धि भी कही है।[14] मन की चंचलता पर विजय बिना ध्यान के नहीं होती है।[15] यह सत्य है कि किसी भी एक विषय पर चित्त की एकाग्रता अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं हो सकती।[16] चित्त की एकाग्रता के फलस्वरूप चेतना के विराट् आलोक में चित्त विलीन हो जाता है अर्थात् ध्येय विषय में चित्त को स्थिर करना ही ध्यान है।[17]

शुभ और अशुभ चिन्तवन के आश्रय से वह ध्यान प्रशस्त-अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार का स्मरण किया गया है। जो ध्यान शुभ परिणामों

से होता है, वह प्रशस्त है और जो ध्यान अशुभ परिणामों से होता है, वह अप्रशस्त है। इस प्रकार मुख्य रूप से ध्यान के दो भेद हुए-अप्रशस्त ध्यान और प्रशस्त ध्यान। इन दोनों के भी दो-दो भेद होते हैं अप्रशस्त ध्यान के आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान ये दो भेद हैं और प्रशस्त ध्यान के धर्म्य एवं शुक्ल।[18] इनमें अप्रशस्त सम्बन्धी आर्त्त और रौद्र ध्यान संसारवृद्धि के कारण होते हैं। प्रशस्त सम्बन्धी धर्म्य और शुक्ल ध्यान मोक्ष के कारण है।

वैदिक परम्परा में अप्रशस्त ध्यान को क्लिष्ट और प्रशस्त ध्यान को अक्लिष्ट कहा गया है।[19] बौद्धाचार्य ने अप्रशस्त ध्यान को अकुशल और प्रशस्त ध्यान को कुशल शब्द से व्यवहृत किया है। आचार्य शुभचन्द्र ने अशुभ, शुभ और शुद्ध इन तीन भेदों का कथन किया है जो आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल इन चार ध्यानों में समाविष्ट हो जाते हैं।[20]

अशुभ और शुभ दोनों प्रकार के ध्यानों के चार अधिकार होते हैं-1. ध्याता 2. ध्येय 3. ध्यान 4. ध्यान का फल। इन अधिकारों की विशेषताओं के कारण ही अशुभ या शुभ संज्ञा दी जाती है। जब ध्याता पंचेन्द्रिय के विषय भोगों को भोगने वाला होगा। प्रकृति से क्रूर और बाह्य विषयों में आसक्ति रखने वाला होगा तब उसका ध्येय संसार को बढ़ाने वाला कोई पदार्थ विशेष ही होगा, उस पदार्थ विशेष की प्राप्ति या वियोग विषयक चिन्तन में जो उसकी एकाग्रता होगी, उसका परिणाम अशुभ अर्थात् नरक, निगोद और तिर्यन्च गतियों में पहुंचाने वाला होगा और जब ध्याता कषाय और इन्द्रियों की प्रवृत्ति को रोकने के लिए, मन को नियंत्रित करने के लिए, मोक्षमार्ग से च्युत न होने के लिए शुभ पदार्थो के चिन्तन का अवलम्बन लेता है तब उसका परिणाम शुभ होता है, जिससे संवर निर्जरा होती है और स्वर्ग-मोक्ष का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

आदिपुराणकार प्रथमतः अप्रशस्त ध्यानों का वर्णन करते हैं, क्योंकि इन खोटे ध्यानों को छोड़े बिना सुख नहीं मिल सकता। अतः दुःख जन्य ध्यानों को जानना अत्यावश्यक है। वे आर्त्त और रौद्र रूप हैं।

आर्त्तध्यान-ऋते: भावम् आर्त्तम् अर्थात् दुःख का भाव आर्त्तभाव है। आर्त्त शब्द ''ऋत'' या अर्ति से बना है। ऋत का अर्थ दुःख और अर्ति

का अर्थ पीड़ा होता है अतः पीड़ा या दुःख संवेदनमय ध्यान को आर्त्तध्यान कहते हैं।[21] आर्त्तभावों से संक्लेशमय भावों (परिणामों) की परम्परा सतत रही है कर्तव्याकर्तव्य का विवेक न रहकर इस ध्यान वाला प्राणी कभी शान्ति और विश्राम को प्राप्त नहीं करता है आदिपुराण में आर्त्तध्यान के अन्तर्भेदों पर विचार किया गया है। वहां कहा गया है कि ऋत अर्थात् दुःख में हो वह पहला आर्त्तध्यान है जिसे चार भागों में विभक्त कर विशेष रूप से जाना जा सकता है इष्टवस्तु के न मिलने से, अनिष्ट वस्तु के मिलने से, निदान से, और पीड़ा आदि के निमित्त से।[22] किसी इष्टवस्तु के वियोग होने पर उनके संयोग के लिए बार-बार चिन्तवन करना सो प्रथम इष्टवियोगज नाम का आर्त्तध्यान है। किसी अनिष्ट वस्तु के संयोग होने पर उसके वियोग के लिए निरन्तर चिन्तवन करना सो द्वितीय अनिष्ट संयोग नाम का आर्त्तध्यान है। आगामी काल सम्बन्धी भोगों की आकांक्षा में चित्त को तल्लीन करना तृतीय निदान नाम का आर्त्तध्यान है। इसकी विशेषता यह है कि यह ध्यान दूसरे की भोगोपभोग की सामग्री देखने से संक्लिष्ट चित्त वाले प्राणी के होता है। वेदना से पीड़ित प्राणी के द्वारा वेदना नष्ट करने के लिए चिन्तन करना या चित्त में लीन होना चतुर्थ वेदना जन्म नामक जन्म नामक आर्त्तध्यान है।[23] इनमें निदान नामक ध्यान को छोड़कर शेष तीन ध्यान मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र, असंयतसम्यग्दृष्टि, देशविरत और प्रमत्तसंयत गुणस्थानों तक जीवों के होते हैं। निदान पंचम देश विरत गुणस्थान वाले तक ही करते हैं। अशुभलेश्याओं के सद्भाव में ही यह ध्यान होता है, किन्तु पंचम और षष्ठ गुणस्थानों में जो आर्त्तध्यान संभव है वे शुभलेश्याओं के अवलम्बन से होते हैं। इसमें क्षायोपशमिकभाव की अवस्था रहती है। चारों गतियों में होता है। अन्तर्मुहूर्त इसका काल है[24] और अन्तर्मुहूर्त के बाद आलम्बन अवश्य बदल जाता है।

रौद्रध्यान-रुद्र-क्रूर परिणाम को कहते हैं आदिपुराण के शब्दों में-

प्राणिनां रोदनात् रुद्रः क्रूरसत्वेषु निर्घृणः।
पुमांस्तत्र भवं रौद्रं विद्धि ध्यानं चतुर्विधम्।। पर्व 21 श्लो 42

– जो पुरुष प्राणियों को रुलाता है, वह रुद्र क्रूर अथवा सब जीवों में निर्दय कहलाता है, ऐसे व्यक्ति में जो ध्यान होता है, वह रौद्र ध्यान है यह भी चार प्रकार का है। इसमें बांधने, जलाने, विदारण एवं मारण ही चिन्ता में चित्त की स्थिरता होती है।[25] हिंसा आदिक क्रियाओं में रौद्रध्यानी आनन्द मानता है। इसमें भौंह टेढ़ी मुख विकृत, पसीना, शरीर कम्पन और नेत्रों में रक्तता होना पाया जाता है। इसमें पाप प्रवृत्ति बढ़ती है अत: नरक गति का कारण है। देशव्रती भी इसके आश्रित हो जाते हैं।[26] यह अत्यन्त अशुभ है। कृष्ण, नील, कापोत लेश्याओं वालों में मुख्यत: से होता है। इसके चार भेद हैं-

1. **हिंसानन्द**-त्रस या स्थावर जीवों का संक्लिष्ट परिणामों के वशीभूत होकर स्वयं घात करना या अन्य से कराना अथवा अन्य को करते देख प्रसन्न होना अथवा अन्य को प्राणी के वध, बन्धन, ताड़न मारण का नियोग मिला देना प्रथम रौद्रध्यान है यही आदिपुराण में वर्णित है।[27] जीवों पर दया न करने वाला हिंसक व्यक्ति इस हिंसानन्द रौद्रध्यान के वश अपने आपका घात करता है, पीछे अन्य जीवों का घात करे या न करे।[28]

आचार्य जिनसेन ने तन्दुलमत्स्य को भावहिंसा से सातवें नरक जाने वाला कहा। अरविन्द विद्याधर को रुधिर से स्नान करने से रौद्रध्यान के फलस्वरूप नरक जाना पड़ा अत: इससे सदैव बचना चाहिए।

2. **मृषानन्द**-असत्य बोलकर लोगों को धोखा देने के लिए चिन्तन करना उसी में लीन होना मृषानन्द नाम का दूसरा रौद्रध्यान है। कठोर बोलना, आदि इसके बाह्य चिन्ह हैं।[29]

3. **स्तेयानन्द**-दूसरे के द्रव्य हरण करने अर्थात् चोरी करने में अपने चित्त को स्थिर कर आनन्द मानना तृतीय रौद्रध्यान है।

4. **परिग्रहानन्द**-क्रूर चित्त होकर आरम्भ परिग्रह रूप सामग्री का संग्रह करना अथवा अन्य के द्वारा परिग्रह के संचय को देखकर प्रसन्न होना चतुर्थ रौद्रध्यान है। गणधर देव ने इन रौद्रध्यानों का फल नरकगति के दु:ख प्राप्त होना बताया।[30]

आर्त्त और रौद्र दोनों ध्यान अनादि काल की वासना के कारण उत्पन्न होने वाले हैं। अत: स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं। मोक्षमार्गी को इनसे बचकर प्रशस्त ध्यान का आश्रय ग्रहण करना चाहिए।

प्रशस्त ध्यान

परम साध्यभूत मोक्षप्राप्ति के लिए आचार्यो ने सद्ध्यान की प्रक्रिया का माध्यम स्वीकार किया है। मोक्षमार्ग ही जीव के लिए यथार्थसत्य है। सत्य का अन्वेषण सद्ध्यान ही से होता है। वस्तुत: आत्मतत्व ही परमसत्य की कोटि में आता है जो महामानव उस परम तत्व की खोज करना चाहते हैं, उन्हें नियम से सद्ध्यान का आश्रय लेना होगा। इसीलिए आदि पुराण में भी कहा है-''अध्यात्म के रूप को जानने वाला मुनि शून्य-गृह, श्मशान, जीर्णवन, नदीतट, पर्वत शिखर, गुहा, वृक्ष की कोटर अथवा अन्य मन्दिर आदि पवित्र और मनोहर प्रदेश में जहां शीत उष्ण की बाधा न हो, तेज वायु न चल रही हो, वर्षा न हो, सूक्ष्म जीवों का उपद्रव न हो, वहां पर्यक आसन बांधकर पृथ्वीतल पर विराजमान हो शरीर को सरल और निश्चल कर जिनमुद्रा में स्थिर कर, मन की स्वच्छन्दता को रोककर अपने अभ्यास के अनुसार मन को हृदय में, मस्तक पर अथवा अन्य किसी स्थान पर रखकर परीषह सहन करते हुए निराकुल भाव से जीवादि तत्वों के सम्यक्स्वरूप का चिन्तन में लीन होना श्रेयस्कर है।[31]

आदिपुराणकार का कहना है कि जो किसी एक ही वस्तु में परिणामों की स्थिर और प्रशंसनीय एकाग्रता होती है, उसे ही ध्यान कहते हैं, ऐसा ध्यान ही मुक्ति का कारण होता है वह धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान के भेद से दो प्रकार का होता है।[33] धर्म्य और शुक्ल को ही मुख्य रूप से ध्यान मानने का कारण आचार्य श्री वीरसेन स्वामी का ''झाणं दुविहं धम्मज्झाणं सुकलज्झाणमिदि''[34] कथन है। इन मोक्ष के साधन स्वरूप दोनों ध्यानों को मुख्य रूप से जानता है। अत: उन्हीं को कहा जा रहा है।

धर्म्यध्यान

''उत्तमक्षमादि धर्मादनपेतं धर्म्यम्'' अर्थात् जो उत्तम क्षमा आदि धर्म से अनपेत-सहित हो, वह धर्म्य ध्यान है। उत्पाद व्यय और ध्रौव्य इन तीनों

सहित जो वस्तु का यथार्थ स्वरूप है, वही धर्म कहलाता है, जो ध्यान धर्म से सहित होता है, वह धर्म्य ध्यान कहलाता है।[35] इन ध्यान के माध्यम से तत्वों का अन्वेषण किया जाता है। चित्त की वृत्तियाँ शांत होती हैं, जिन्हें चित्त की वृत्तियां कहा जाता है। वस्तुत: वे आत्मा की ही वृत्तियां हैं। रागी द्वेषी आत्मा ही मन के द्वारा राग द्वेष रूप व्यापारों में प्रवृत्त होता है। राग द्वेष पर नियंत्रण के बिना चित्त की चंचलता पर नियंत्रण नहीं हो सकता। चित्त की चंचलता निर्यंत्रित हुए बिना आत्मा का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता है। चित्त की चंचलता को निर्यंत्रित करने वाला साधन ही आत्मदर्शन करता है जैसा कि पूज्यपाद कहते हैं-

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्रत्वं नेतरो जनः॥[36]

जिसका मन रूपी जल रागद्वेष आदि लहरों से चंचल नहीं होता वह आत्मा के यथार्थ स्वरूप को देखता है। अन्य जन उस आत्मतत्त्व का दर्शन नहीं कर सकते।

आत्मदर्शन का मुख्य साधन धर्म्य और शुक्ल ध्यान ही हैं। इनका ध्याता उत्तम संहननधारी होता है। जैसा कि आदिपुराण में कहा है-जो वज्रवृषभनाराच संहनन नामक अतिशय बलवान् शरीर का धारक है, जो तपश्चरण करने में अत्यन्त शूरवीर है, जिसने अनेक शास्त्रों का अच्छी तरह से अभ्यास किया है, जिसने आर्त्तरौद्र नामक खोटे ध्यानों को दूर हटा दिया है, जो अशुभ लेश्याओं से बचता रहता है, जो लेश्याओं की विशुद्धता का अवलम्बन का प्रमाद रहित अवस्था का चिन्तवन करता है, अतिशय बुद्धिमान् है, योगी है, जो बुद्धिबल से सहित है। शास्त्रों के अर्थ का अवलम्बन लेने वाला है, जो धीर-वीर है और जिसने समस्त परीषहों को सह लिया है ऐसा उत्तम मुनि ध्याता है।[37]

आदिपुराण के अनुसार अप्रमत्त मुनि को धर्म्यध्यान का स्वामी बताया गया है जिसका समर्थन आचार्य देवसेन के तत्त्वसार, आचार्य रामसेन के तत्त्वानुशासन, आचार्य नागसेन के तत्वानुशासन एवं आचार्य शुभचन्द्र के

ज्ञानार्णव से भी होता है। इन आचार्यों ने धर्म्यध्यान के अधिकारी मुख्य और उपचार के भेद से अप्रमत्तगुणस्थानवर्ती और प्रमत्तगुणस्थानवर्ती मुनियों को माना है।[38] आचार्य जिनसेन का कहना है कि अल्प श्रुतज्ञानी अतिशय बुद्धिमान् और श्रेणी के पहिले पहिले धर्म्यध्यान धारण करने वाला उत्कृष्ट मुनि ही उत्तम ध्याता (स्वामी) है।[39] साथ में यह भी कहा है कि सम्यग्दृष्टि, देशव्रती प्रमत्त संयत मुनि को भी धर्म्य ध्यान होता है।

आचार्य पूज्यपाद, अकलंकभट्ट, विद्यानंदी आदि आचार्यो ने चौथे गुणस्थान से अप्रमत्तगुणस्थान तक के प्राणियों को धर्म्य ध्यान का स्वामी कहा है। इन आचार्यो का अविरत सम्यग्दृष्टि और देशविरत को उपचार से धर्म्यध्यान का स्वामी कहना है क्योंकि भक्ति गृहस्थ का धर्म्यध्यान है। उन्हें मोक्ष का साधन भूत धर्म्यध्यान न होकर धर्म भावना रूप (आज्ञाविचय अपायविचय) धर्म्यध्यान होता है। इन्हीं की अपेक्षा अविरत सम्यग्दृष्टि और देशव्रती को धर्म्यध्यान कहा गया है। गृहस्थावस्था में ध्यान की सिद्धि कदापि नहीं हो सकती हैं क्योंकि गृहस्थावस्था की आपदारूपी महान् कीचड़ में जिनकी बुद्धि फंसी हुई है तथा जो प्रचुरता से बढ़े हुए रागरूपी ज्वर के यंत्र से पीड़ित है और जो परिग्रह रूपी सर्प के विष की ज्वाला से मूर्च्छित हुए हैं वे गृहस्थजन विवेकरूपी मार्ग से चलते हुए स्खलित हो जाते हैं जैसा कि शुभचन्द्र आचार्य कहते हैं।

खपुष्पमथवाश्रृंगं खरस्यापि प्रतीयते।
न पुनर्देशकालेऽपि ध्यानसिद्धिर्गृहाश्रमे।।[40]

आकाश के पुष्प और गधे के सींग नहीं होते। कदाचित् किसी देश व काल में इनके होने की प्रतीति हो सकती है परन्तु गृहस्थाश्रम में ध्यान की सिद्धि होनी तो किसी देश व काल में संभव नहीं है।

इस प्रकार सिद्धि रूप धर्म्यध्यान के अधिकारी तो अप्रमत्त मुनि हैं किन्तु भावना रूप धर्म ध्यान गृहस्थ-अविरत सम्यग्दृष्टि, देशव्रती और प्रमत्तसंयत मुनि को होता है।

धर्म्यध्यान के ध्येय विषयों पर विचार करते हुए कहा गया है कि द्रव्यध्येय और भावध्येय दोनों वस्तुतः आत्म तत्व की उपादेयता का ही ग्रहण कराते हैं। द्रव्यध्येय में अरहन्त या परमेष्ठी ग्रहण होते हैं। भाव ध्येय में स्वरूप रूप मात्र का ग्रहण किया गया है। यथार्थ भूत ध्येय के ग्रहण से ही ध्यान की सिद्धि होती है। आचार्य रामसेन ने कहा है कि जब ध्याता ध्यान के बल से अपने शरीर को शून्य करके ध्येय स्वरूप में प्रविष्ट होने से स्वयं उस रूप हो जाता है, तब वही उस प्रकार के ध्यान की कल्पना से रहित होता हुआ परमात्मा स्वरूप हो जाता है।[41]

धर्म्यध्यान कषाय सहित जीवों के ही होता है इस बात की पुष्टि करते हुए आचार्य वीरसेन स्वामी धवला पुस्तक 13 में कहते हैं कि असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत क्षपक और उपशमक अपूर्वकरण संयत क्षपक और उपशामक, अनिवृत्तिसंयत क्षपक और उपशामक एवं सूक्ष्मसाम्पराय संयत क्षपक और उपशामक जीवों के धर्म्यध्यान की प्रवृत्ति होती है ऐसा जिनेन्द्र देव का उपदेश है इससे जाना जाता है कि धर्म्यध्यान कषाय सहित जीवों के ही होता है।

कषाय सहित प्राणी के होने के कारण यह एक वस्तु (आत्मा) में स्तोक काल तक ही रहता है। स्तोक काल के विषय में वीरसेन स्वामी हेतु देते हैं कि कषाय सहित परिणाम का गर्भगृह के भीतर स्थित दीपक के समान चिरकाल तक अवस्थान नहीं पाया जाता है।[42] आचार्य वीरसेन स्वामी शुभोपयोग, शुद्धोपयोग दोनों में ही धर्म्यध्यान स्वीकार करते हैं।

धर्म्यध्यान के फल पर विचार करते हुए कहा गया है कि-अक्षपक जीवों को देव पर्याय सम्बन्धी विपुल सुख मिलना और कर्मो की गुणश्रेणी निर्जरा होना फल है तथा क्षपक जीवों के तो असंख्यातगुण श्रेणी रूप से कर्म प्रदेशों की निर्जरा होना और शुभ कर्मो का उत्कृष्ट अनुभाग का होना धर्म्यध्यान का फल है।[43] अट्ठाईस प्रकार की मोहनीय की सर्वोपशमना और मोहनीय का विनाश भी फल है।[44]

आदिपुराण में धर्म्यध्यान के आज्ञाविचय, अपायविचय, संस्थानविचय और विपाकविपय चार भेद स्वीकार किये गये हैं।[45]

आज्ञाविचय-अत्यन्त सूक्ष्म अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थो को विषय करने वाला जो आगम है, उसे ही आज्ञा कहते हैं क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान के विषय से रहित केवल श्रद्धान करने योग्य पदार्थ में एक आगम की ही गति होती है।[46] वह चार अनुयोगों में विभक्त है। द्रव्यश्रुत और भावश्रुत आगम सर्वत्र प्रणीत है अत: उसमें वर्णित सप्त तत्व पदार्थ षड्द्रव्य पंचास्तिकाय का चिन्तन करते हुए स्थिर होना आज्ञाविचय धर्म्यध्यान है।

अपायविचय-तीन (मानसिक, वाचिक, कायिक अथवा जन्म जरा, मृत्यु) प्रकार के संताप से भरे हुए संसार रूपी समुद्र में जो प्राणी पड़े हुए हैं उनके अपाय का चिन्तन करना दु:खों से निकालने का विचार करना अपाय विचय धर्म्यध्यान है।[47]

विपाकविचय-शुभ और अशुभ भेदों में विभक्त हुए कर्मो के उदय से संसाररूपी आवर्त्त की विचित्रता का चिन्तवन करने वाले मुनि के जो ध्यान होता है उसे आगम के ज्ञाता तृतीय धर्म्यध्यान कहते हैं।

संस्थानविचय-लोक के आकार का बार-बार चिन्तवन करना तथा लोक के अन्तर्गत रहने वाले जीव अजीव आदि तत्त्वों का विचार करना चतुर्थ धर्म्यध्यान कहलाता है।

आदिपुराण तथा अन्य ध्यान विषयक शास्त्रों में धर्म्यध्यान के उक्त चार भेदों का ही कथन है किन्तु चारित्रसार में विशेष कथन करते हुए अपायविचय, उपायविचय, जीवविचय, अजीवविचय, विपाकविचय, विरागविचय, भवविचय, संस्थानविचय, आज्ञाविचय, हेतुविचय इन दश भेदों का कथन किया गया है। ध्यान विषयक ग्रन्थों[48] में संस्थान विचय के पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत भेद निरूपित किये गये हैं।[49] आचार्य अमितगति ने पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत क्रम

स्वीकार किया है जिसकी समानता बृहद्द्रव्य संग्रह की टीका में उद्घृत ध्यान भेदों में भी है।[50] इन ध्यानों के वर्णनीय विषयों के सम्बन्ध में कहा गया है-

पिण्डस्थे स्वात्मचिन्तनं, पदस्थे मंत्रवाक्यस्थम्।
रूपस्थे सर्वचिद्रूपं रूपातीतं निरंजनम्॥

पिण्डस्थ ध्यान में स्वात्मचिन्तन, पदस्थ में मंत्र वाक्यों का चिन्तवन, रूपस्थ में सर्वचिद्रूप अरहन्त स्वरूप का ध्यान और रूपातीत ध्यान में निरंजन निर्विकार सिद्धात्मा के स्वरूप का ध्यान करते हुए एकाग्रता को प्राप्त किया जाता है।[51] ज्ञानार्णव[52], उपासकाध्ययन[53], ज्ञानसार आदि के अनुसार पिण्डस्थ ध्यान के अन्दर पार्थिवी धारणा, आग्नेयी धारणा, वायवी धारणा, वारूणी धारणा और तत्त्वरूपवती धारणा का वर्णन है। इनका ध्यान करने से स्वात्मरत संयमी पुरुष अनादिकालीन कर्मबन्धन को छिन्न करके मुक्ति प्राप्त कर सकता है। संस्थान विचय सम्बन्धी ध्यान के इन भेदों का तत्त्वार्थसूत्र, मूलाचार, भगवती आराधना, ध्यानशतक और आदिपुराण में उल्लेख भी नहीं किया गया है।

शुक्लध्यान

कषायों के उपशम या क्षय होने का नाम शुचिगुण है। आत्मा के इस शुचिगुण के सम्बन्ध से जो ध्यान होता है, उसे शुक्लध्यान कहते हैं। वह शुक्ल और परम शुक्ल के भेद से दो प्रकार का है, उसमें प्रथम शुक्ल ध्यान छद्मस्थों में होता है अर्थात् श्रेणी आरोहण करने वाले उपशामक और क्षपक के साथ उपशांत मोह नामक गुणस्थानवर्ती साधक और क्षीण मोही जिन को होता है। द्वितीय परम शुक्ल ध्यान केवली भगवन्तों के पाया जाता है।[54] प्रथम शुक्ल ध्यान के भी पृथक्त्ववितर्क वीचार और एकत्ववितर्क वीचार दो भेद हैं। परम शुक्ल ध्यान के सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती और समुच्छिन्न क्रियानिवर्ति ये दो भेद होते हैं। यहां इतनी विशेषता है कि आदिपुराणकार श्रेणी से शुक्ल ध्यान स्वीकार करते हैं किन्तु धवलाकार

आचार्य वीरसेन उपशांत कषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थान से चौदहवें गुण स्थान तक के साधकों में शुक्ल ध्यान मानते हैं।

पृथक्त्ववितर्कवीचार

पृथक्त्व का अर्थ भेद है, वितर्क का अर्थ द्वादशांग श्रुत है वीचार का तात्पर्य अर्थ, व्यंजन और योग की संक्रान्ति है। एक अर्थ से दूसरे अर्थ की प्राप्ति होना अर्थ संक्रान्ति है। एक व्यंजन से दूसरे व्यंजन में प्राप्त होकर स्थिर होना व्यंजन संक्रान्ति और एक योग से दूसरे योग में गमन होना योग संक्रान्ति है। इस प्रकार जिस ध्यान में वितर्क-श्रुत के पदों का पृथक्-पृथक् रूप से वीचार-संक्रमण होता रहे उसे पृथक्त्व वितर्कवीचार नामक प्रथम शुक्ल ध्यान कहा जाता है।[55]

उपशान्त कषाय वाला साधक या श्रेणी आरोहण करने वाला साधक शुक्ल लेश्या से युक्त रहता हुआ अन्तर्मुहूर्त काल तक छह द्रव्य नौ पदार्थ विषयक चिन्तन करता है और उसी में स्थिर हो जाता है। अर्थ से अर्थान्तर का संक्रमण होने पर भी इस ध्यान का विनाश नहीं होता क्योंकि इससे चिन्तान्तर में गमन नहीं होता। यह दोनों श्रेणियों में होता है।

एकत्ववितर्कवीचार ध्यान

यहां एक का भाव एकत्व है[56]। वितर्क द्वादशांग को कहते हैं और अवीचार का अर्थ असंक्रान्ति है। अभेदरूप से वितर्क सम्बन्धी अर्थ व्यंजन और योगों का अवीचार (असंक्रान्ति) जिस ध्यान में होता है वह एकत्व वितर्क अवीचार नामक द्वितीय शुक्ल ध्यान है। आदिपुराण में कहा है-जिस ध्यान में वितर्क के एकरूप होने के कारण वीचार नहीं होता अर्थात् जिसमें अर्थ, व्यंजन और योगों का संक्रमण नहीं होता उसे एकत्ववितर्कवीचार कहते हैं।[57]

इस ध्यान का ध्याता शुक्ललेश्या वाला, मोह को नष्ट करने वाला, तीन योगों में से किसी एक योग का धारण करने वाला परमतपस्वी अमित तेजधारी महामुनि होता है। जो बारहवें गुणस्थान में पहुंचा हुआ होता है।

सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती

यहां क्रिया का अर्थ योग है और वह योग जिसके पतनशील हो वह प्रतिपाती कहलाता है। उसका प्रतिपक्ष अप्रतिपाती है, जिसमें क्रिया अर्थात् योग सूक्ष्म होता है, वह सूक्ष्म क्रिया कहा जाता है और सूक्ष्मक्रिया होकर जो अप्रतिपाती होता है वह सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती ध्यान कहलाता है। इसके स्वामी केवली हैं। वे केवलज्ञानी समुद्घात की विधि प्रकट करते हैं।[58] समुद्घात के माध्यम से अघातिया कर्मों की स्थिति के असंख्यात भागों को नष्ट कर देते हैं और अशुभ कर्मों के अनुभाग के भी अनन्त भाग नष्ट करते हैं। अन्तर्मुहूर्त में योगरूपी आस्रव का निरोध करते हुए काय योग के आश्रय से वचनयोग और मनोयोग को सूक्ष्म कहते हैं फिर काय योग को भी सूक्ष्म कर उसके आश्रय से होने वाले सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती ध्यान के स्वामी केवली होते हैं।

समुच्छिन्न क्रियानिवर्ति-जिसमें क्रिया-योग सम्यक् प्रकार से उच्छिन्न हो चुका है, वह समुच्छिन्न क्रिया हैं। समुच्छिन्न क्रिय होकर जो कर्म बन्ध से पूर्ण निवृत्त नहीं हुए हैं अर्थात् मुक्त नहीं हुए हैं वही समुच्छिन्न क्रिया निवर्ति ध्यान करने वाले हैं, उनका ध्यान ही व्युपरत क्रिया निवर्ति या समुच्छिन्न क्रिया निवर्ति कहलाता है जैसा कि आदिपुराणकार भी कहते हैं जिसके समस्त योगों का पूर्ण निरोध हो गया है ऐसे योगिराज प्रत्येक प्रकार आस्रव से रहित होकर समुच्छिन्न क्रिया निवर्ति नाम के चतुर्थ शुक्ल ध्यान को प्राप्त होते हैं।[59]

यह ध्यान भी अन्तर्मुहूर्त तक धारण किया जाता है। इसके स्वामी अयोग केवली चौदहवें गुणस्थान के उपान्त्य समय में बहत्तर और अन्तिम समय में तेरह कर्म प्रकृतियों को विनष्ट कर मुक्ति प्राप्त करते हैं। परमसिद्धात्मा बनकर अक्षय अनन्त अमूर्तिक हो सिद्धालय में विराजमान होते हैं।

उक्त प्रकार के ध्यान के भेद-प्रभेदों का वर्णन किया। ध्यान सभी तपों का सार है। ध्यान का सर्वातिशायी महत्व इसलिए है क्योंकि इसके द्वारा ही कर्मो की निर्जरा होकर मुक्ति प्राप्त होती है।

1. आवश्क निर्युक्ति गाथा 1463 2. आदिपुराण पर्व 2 श्लोक 8
3. पर्व 21 श्लोक 12 4 पर्व 21 श्लोक 13-14
5. पर्व 21 श्लोक 9 6. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् पा भो. 3/2
7. विसुद्धिमग्गो पृ. 141-151 8 आवश्क निर्युक्ति 1476-77
9 भगवद्गीता 12-22 10 मनुस्मृति 1-12, 6-72
11 रघुवंश 1-73 12. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 7 13. ज्ञानात् ध्यानंविशिष्यते
14 तस्मादाशयशुद्धचर्यमिष्ठा तत्वार्थभावना।
ज्ञानशुद्धिस्तस्तस्यां ध्यानशुद्धिरूढाहृता।। आदिपुराण पर्व 21 श्लोक 26
15. ध्यानशतक 8 16 तत्वार्थसूत्र 6-28 योगप्रदीप 15-33
17 ध्यानंतुविषये तस्मिन्नेक प्रत्यय सतति-अभिज्ञान चिन्तामणि कोष 1/84
18 आदिपुराण पर्व 21 श्लोक 27, 28, 29
19 तैत्तिरीयोपनिषद 20 विसुद्धिमग्ग 21. ज्ञानार्णव 3/28-31
22. "ऋतमर्दनमर्ति वा तत्र भवमार्त्तम्" तत्वार्थराजवर्तिक 9/28/1
23-25. आदिपुराण पर्व 21, श्लोक 31-36, 38
26. ज्ञानसार गाथा 12 27. तत्वार्थसूत्र 1/35
28-32 आदिपुराण पर्व 21, श्लोक 45, 50, 51, 57-64
33 प्रशस्तप्रणिधानयत् स्थिर मेकत्रवस्तुनि, तद्ध्यानमुक्तं मुक्त्यंगं धर्म्य शुक्लमितिद्विघां आ पु प 21 श्लोक 132
34. धवला पुस्तक 13 पृष्ठ 60 35 आदिपुराण पर्व 21 श्लोक 133
36 समाधितंत्र 35 37 आदिपुराण पर्व 21 श्लोक 85-87
38. ज्ञानार्णव गाथा 25 पृ 267 39 आदिपुराण पर्व 21 श्लोक 102 व 156
40 ज्ञानार्णव 41. तत्वानुशासन 135-36 42. धवलपुस्तक 13 पृ. 74
43 ज्ञानार्णव पृ 268 गा 28 44 धवल पुस्तक 13 पृ. 13 गा. 56-57
45-47 आदिपुराण पर्व 21, श्लोक 134, 135, 141
48 योगसार गाथा 97 49. ज्ञानार्णव 34/1 (1877)
50 बृहद्द्रव्यसंग्रह गा. 48 की संस्कृत टीका
51 ज्ञानसार 52 ज्ञानार्णव 53. उपासकाध्ययन
54-55. आदिपुराण पर्व 21, श्लोक 167, 168
56. धवल पु. 13 पृ. 79
57-59 आदिपुराण पर्व 21, श्लोक 179, 189, 196

रीडर-दिगम्बर जैन कालिज, बड़ौत
निदेशक-दिगम्बर जैन मुनि विद्यानंद शोधपीठ, बड़ौत

●●

जैन श्रमणाचार और ध्यान-विमर्श

- डॉ. अशोक कुमार जैन

भारतवर्ष धर्म प्रधान देश है। यहां पर वैदिक परम्परा एवं श्रमण-परम्परा का प्रवाह अविच्छन्न रूप से गतिमान है। दोनों ही परम्पराओं में विशाल वाङ्मय उपलब्ध है। श्रमण संस्कृति की चिन्तनधारा मूलतः आध्यात्मिक है। अध्यात्म में धरातल पर जीवन का चरम विकास श्रमण संस्कृति का अन्तिम लक्ष्य है। जीवन का लक्ष्य सच्चे सुख की प्राप्ति है। यह सुख आत्म-स्वातंत्र्य में ही संभव है। कर्मबन्धनमुक्त संसारी जीव इसकी पहचान नहीं कर पाता वह इन्द्रियजन्य सुखों को वास्तविक सुख मान लेता है। श्रमण-संस्कृति व्यक्ति को इस भेद-विज्ञान का दर्शन कराकर उसे निश्रेयस् के मार्ग पर चलने के लिए प्रवृत्त करती है।

जैन श्रमण समता की साक्षात् प्रतिमूर्ति है। जैन आचार का लक्षण समत्व प्राप्ति है और वह राग-द्वेष की निवृत्ति से ही संभव है। सूत्रकृतांग की शीलाङ्ककृत टीका[1] में लिखा है 'श्राम्यति तपसा खिद्यत इति कृत्वा श्रमणो वाच्यः। अर्थात् जो आत्मा की साधना के लिए श्रम करता है या तप-साधना से शरीर को खेद-खिन्न करता है वह श्रमण है। श्रमण शब्द स्वयं में महान् तपस्वी साधु का द्योतक है। वे बहिरंग और अन्तरंग तपों में निरत रहकर आत्मसाक्षात्कार की दिशा में अग्रसर होते हैं। अन्तरंग तपों में ध्यान का शास्त्रों में अत्यन्त महत्व प्रतिपादित किया गया है।

'ध्यै चिन्तायाम्' धातु से ध्यान शब्द निष्पन्न है तथा जिसका अर्थ होता है चिन्तन। एक विषय में चिन्तन का स्थिर करना ध्यान है[2]। तत्वार्थसूत्र में लिखा है कि 'उत्तम संहनन वाले का एक विषय में चित्तवृत्ति का रोकना ध्यान है जो अन्तर्मुहूर्त तक होता है।[3] अपराजितसूरि ने एक पदार्थ में ज्ञान सन्तति के निरोध को ध्यान कहा है।[4] भगवती आराधना में ध्यान की सामग्री के विषय में कहा है कि बाह्य द्रव्य को

देखने की ओर से आँखों को किंचित् हटाकर अर्थात् नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि को स्थिर करके एक विषयक परोक्ष ज्ञान में चैतन्य को रोककर शुद्ध चिद्रूप अपनी आत्मा में स्मृति का अनुसंधान करें। यह ध्यान संसार से छूटने के लिए किया जाता है।[5] आचार्य जिनसेन ने तन्मय होकर किसी एक ही वस्तु में जो चित्त का निरोध कर लिया जाता है उसे ध्यान कहा है। वह ध्यान वज्रवृषभनाराच संहनन वालों के अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक ही रहता है।[6] जो चित्त का परिणाम स्थिर होता है उसे ध्यान कहते हैं और जो चंचल रहता है उसे अनुप्रेक्षा, चिन्ता, भावना अथवा चित्त कहते हैं।[7] योग, ध्यान, समाधि, धीरोध अर्थात् बुद्धि की चंचलता रोकना, स्वान्त निग्रह अर्थात् मन को वश में करना और अन्त:संलीनता अर्थात् आत्मा के स्वरूप में लीन होना आदि सब ध्यान के ही पर्यायवाचक शब्द है।[8]

ध्यान के भेद-ध्यान के दो प्रकार हैं-1. शुभ ध्यान 2. अशुभ ध्यान। भोगी की शक्ति का उपयोग अशुभ ध्यान में होता है। योगी की शक्ति का उपयोग शुभ ध्यान में होता है। अत: ध्यान को प्राथमिक भूमिका से उठाकर अन्तिम शिखा तक ले जाने के चार आयाम हैं-

चत्तारि झाणा पण्णता तं जहा
अट्टे झाणे रोद्दे झाणे धम्मे झाणे सुक्के झाणे।[9]

तत्वार्थ सूत्र में भी लिखा है 'आर्तरौद्रधर्म्य शुक्लानि[10]' अर्थात् ध्यान के चार प्रकार कहे हैं-आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान।

1. **आर्त्तध्यान**-आर्त शब्द 'ऋत' अथवा 'अर्ति' इनमें से किसी एक से बना है। इनमें से ऋत का अर्थ दु:ख है और अर्तिकी, अर्दनं अर्ति, ऐसी निरुक्ति होकर उसका अर्थ पीड़ा पहुंचाना है। इसमें जो होता है वह आर्त्तध्यान है। इसके चार भेद हैं। 1. अनिष्ट संयोग 2. इष्ट वियोग 3. परीषह (वेदना) 4. निदान। कषाय सहित होने से यह अप्रशस्त माना जाता है।[12]

2. **रौद्रध्यान**-यह भी कषाय सहित होता है अत: यह भी अप्रशस्त ध्यान के अन्तर्गत है। इसमें क्रूरता का प्राधान्य होता है। हिंसक एवं क्रूर भावों

से युक्त स्व और पर के घात का निरन्तर चिन्तन करना रौद्रध्यान है। रौद्रध्यान के चोरी, असत्य, हिंसा का रक्षण तथा छह प्रकार के आरम्भ को लेकर चार भेद कहे हैं।[13]

आर्त्त और रौद्रध्यान अप्रशस्त है। सुगति में विघ्न डालने वाले और महान् भय के कारण होने से महाभय रूप रौद्र और आर्त्त ध्यान को त्याग कर बुद्धि सम्पन्न क्षपक धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान को ध्याता है।[14]

3. **धर्म्यध्यान**-धर्म से युक्त ध्यान धर्मध्यान है। यहां धर्म शब्द वस्तुस्वभाव का वाचक है अत: धर्म अर्थात् वस्तु स्वभाव को धर्म कहते हैं। तत्त्वार्थ सूत्र में लिखा है 'आज्ञापायविपाक संस्थान विचयाय धर्म्यम्' अर्थात् आज्ञा, अपाय विपाक और संस्थान इनकी विचारणा के निमित्त मन को एकाग्र करना धर्म्यध्यान है।[15] शिवार्य के अनुसार आर्जव, लघुता, मार्दव, उपयश और जिनागम में स्वाभाविक रुचि, ये धर्म्यध्यान के लक्षण हैं।[17] स्थानांगसूत्र में धर्म्यध्यान के चार लक्षण बताये हैं-1. आज्ञारुचि अर्थात् प्रवचन में श्रद्धा होना 2. निसर्गरुचि-सत्य में सहज श्रद्धा होना 3. सूत्ररुचि-सूत्र पठन से सत्य में श्रद्धा उत्पन्न होना 4. अवगाढ़ रुचि-विस्तृत पद्धति से सत्य में श्रद्धा होना।[18]

ध्यान की एकाग्रता के लिए आलम्बनों का होना आवश्यक हो जाता है। शिवार्य ने इस सम्बन्ध में लिखा है-ध्यान करने के इच्छुक क्षपक के लिए यह लोक आलम्बनों से भरा हुआ है। वह मन को जिस ओर लगाता है वही आलम्बन बन जाता है।[19] धर्म्यध्यान के मुख्य चार आलम्बन माने गये हैं- 1. वाचना 2. पृच्छना 3. परिवर्तना 4. अनुप्रेक्षा। शिवार्य ने सभी अनित्यादि बारह अनुप्रेक्षाओं को धर्म्यध्यान के अनुकूल आलम्बन माना है।[20]

भेद-धर्मध्यान के चार भेद हैं-आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय तथा संस्थान विचय-ये चारों धर्म्यध्यान के ध्येय भी है। इनका विवरण इस प्रकार है-

1. **आज्ञा विचय**-पांच अस्तिकाय (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश) षड् जीव निकाय (पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस), काल द्रव्य तथा अन्य कर्मबन्ध, मोक्ष आदि को जो **सर्वज्ञ की आज्ञा से ही गम्य है, आज्ञाविचय नामक धर्म्यध्यान** के

द्वारा विचार करता है। परम दयालु और राग-द्वेष से रहित सर्वज्ञदेव ने जिस रूप में इन्हें कहा है वे उसी रूप में हैं। इस प्रकार के चिन्तन को आज्ञा विचय धर्मध्यान कहते हैं।[21]

2. **अपाय विचय**-तीर्थंकर पद को देने वाले दर्शन विशुद्धि आदि द्वारा कथित उपदेश के अनुसार करता है अथवा जीवों के शुभ और अशुभ कर्म विषयक अपायों का विचार करता है। इसका अभिप्राय है कि जीव शुभ और अशुभ कर्मो से कैसे छूटे इस प्रकार का सतत चिन्तन अपाय विचय है।[22]

3. **विपाक विचय**-कर्मो के फल, उदय, उदीरणा, संक्रम, बन्ध तथा मोक्ष आदि का चिन्तन करना विपाक विचय धर्म्यध्यान है।[23]

4. **संस्थान विचय**-पर्याय अर्थात् भेद सहित तथा वेत्रासन, झल्लरी और मृदंग के समान आकार सहित ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक का चिन्तन करना संस्थान विचय धर्म्यध्यान है।

4. **शुक्लध्यान**-जिसमें शुचि गुण का सम्बन्ध हो उसे शुक्ल कहते हैं।[25] जिसमें अतिविशुद्ध गुण होते हैं, कर्मों का उपशम तथा क्षय होता है और शुक्ल लेश्या होती है वह शुक्लध्यान है।[26] जब क्षपक धर्म्यध्यान को पूर्ण कर लेता है तब वह अति विशुद्ध लेश्या के साथ शुक्लध्यान को ध्याता है क्योंकि परिणामों की पंक्ति उत्तरोत्तर निर्मलता को लिये हुए हैं। अत: वह क्रम से ही होती है जिसने प्रथम सीढ़ी पर पैर नहीं रखा वह दूसरी सीढ़ी पर नहीं चढ़ सकता। अत: धर्म्यध्यान में परिपूर्ण हुआ अप्रमत्त संयमी ही शुक्लध्यान करने में समर्थ होता है।[27]

भेद-शुक्लध्यान के चार भेद हैं-1. पृथक्त्ववितर्क 2. एकत्ववितर्क 3. सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति 4. व्युपरतक्रियानिवर्ति।28

1. **पृथक्त्ववितर्क वीचार**-प्रथम शुक्लध्यान का नाम पृथक्त्व वितर्क है क्योंकि इसमें योग परिवर्तन के साथ ध्येय का भी परिवर्तन होता रहता है इसलिए इसको पृथक्त्व कहते हैं। श्रुतज्ञान को वितर्क कहते हैं। चौदह पूर्वों का ज्ञाता साधु ही इस शुक्लध्यान को ध्याता है इसलिए इस प्रथम शुक्लध्यान को सवितर्क कहते

हैं अथवा श्रुत का कारण होने से वितर्क शब्द का अर्थ श्रुत है। नाना अर्थो के वाचक जो शब्द हैं उनमें संक्रम अर्थात् परावर्तन को और योगों के परिवर्तन को वीचार कहते हैं। इस वीचार होने से शुक्लध्यान को आगम में सवीचार कहा है।

इस तरह पृथक्त्व अर्थात् भेदरूप से वितर्क अर्थात् श्रुत का वीचार (संक्रान्ति) जिस ध्यान में होता है वह पृथक्त्ववितर्क वीचार नामक प्रथम शुक्लध्यान है। यह ध्यान उपशान्तमोह कषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों को होता है।[29]

2. **एकत्ववितर्क अवीचार**-यह दूसरा शुक्ल-ध्यान का भेद है इसका नाम एकत्ववितर्क है क्योंकि इसमें एक ही योग का अवलम्बन लेकर एक ही द्रव्य का ध्यान किया जाता है अत: एक द्रव्य का अवलम्बन लेने से इसे एकत्व कहते हैं प्रथम शुक्लध्यान की तरह दूसरा भी सवितर्क है। यह ध्यान क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों को होता है।[30]

3. **सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति**-सूक्ष्मकाययोग में स्थित केवली उस सूक्ष्म भी काययोग को रोकने के लिए तीसरा शुक्लध्यान ध्याता है। यह ध्यान वितर्क और वीचार से रहित अवितर्क और अवीचार है। इसमें प्राण, अपान, श्वासोच्छ्वास का प्रचार, समस्त काय-योग, मनोयोग, वचन योग रूप हलन-चलन क्रिया का व्यापार नष्ट हो जाता है इसलिए वह अक्रिय है। इस ध्यान से सब कर्मो का आस्रव रुक जाता है अत: इसे निरुद्ध योग कहा है। इसके अनन्तर कोई ध्यान नहीं होता इससे इसे अपश्चिम कहा है तथा यह परम शुक्लध्यान है।[31]

4. **व्युपरतक्रिया निवर्ति**-काय-योग का निरोध करके अयोगकेवली औदारिक, तैजस और कार्मण शरीरों का नाश करता हुआ अन्तिम शुक्लध्यान को ध्याता है। एक अन्तर्मुहूर्त काल तक अतिनिर्मल उस ध्यान को करके शेष चार अघाति कर्मों का विनाश कर मोक्ष को प्राप्त होता है। अयोग केवली के उपान्त्यसमय में बासठ और अन्तिम समय में तेरह प्रकृतियां नष्ट हो जाती हैं।

उसके पश्चात् वह शुद्धात्मा ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण एक ही समय में लोक के अन्त पर्यन्त जाकर सिद्धालय में विराजमान हो जाता है।[32]

जैन श्रमणाचार में ज्ञान और ध्यान ये दोनों कार्य श्रमण के विशेष रूप से वर्णित किये गये हैं। आन्तरिक तपों में ध्यान साधना पर विशेष बल दिया गया है। अत: कर्म क्षय में ध्यान की महत्वपूर्ण भूमिका है।

सन्दर्भ

1. सूत्रताङ्ग, शीलांककृत टीका 1/16
2. एकाग्रचिन्तानिरोधोध्यानमिति-मूलाचारवृत्ति 5/197
3. उत्तम संहननस्यैकाग्रचिन्ता निरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्। तत्वार्थसूत्र 9/27
4. एकस्मिन् प्रमेये निरुद्धज्ञानसततिर्ध्यानम्-विजयोदया टीका पृ. 249
5. भगवती आराधना गाथा 1701 की विजयोदया टीका पृ 756
6. आदिपुराण 21/8
7. वही 21/9
8. वही 21/12

9 स्थानांग सूत्र-4

10. तत्वार्थसूत्र 9/28
11. सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ 351

12-14 भगवती आराधना गाथा 1697, 1692, 1699

15 तत्वार्थसूत्र 9/27

16-17 भगवती आराधना गाथा 1703 की विजयोदया टीका पृ. 757, गाथा 1704

18 ठाणं 4/66 पृ 310

19-24. भगवती आराधना 1870, 1705, 1706, 1707, 1708, 1709

25 सर्वार्थ सिद्धि 9/28 पृ. 874

26. कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 481

27 भगवती आराधना गाथा 1871

28. तत्वार्थसूत्र 9/39

29-32. भगवती आराधना गाथा 1872-1875, 1878, 1881, 1883

- वरिष्ठ प्राध्यापक, जैन विद्या एवं
तुलनात्मक धर्म दर्शन विभाग
जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं (राज.)

अपरिग्रह से द्वन्द्वविसर्जन : समतावादी समाज-रचना

- डॉ. सुषमा अरोरा

विज्ञान के उत्तरोत्तर विकास के साथ यह विश्व चाहे जितना छोटा होता जा रहा हो, उसमें एक कोने से दूसरे कोने तक पहुंचने की समय की दूसरी चाहे कितनी संकुचित होती जा रही हो, किन्तु उसकी परिवार जैसी छोटी और राष्ट्र जैसी बड़ी इकाइयों के बीच भी संघर्ष और अशान्ति के बादल घुमड़ रहे हैं। राष्ट्र रूपी इकाइयों के बीच संतुलन बनाये रखने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसी विशालतम संस्थाएं भी निरन्तर असफल हो रही हैं। नगर, ग्राम और परिवार आदि छोटी इकाइयों के बीच भी संघर्ष और अशान्ति का जो तूफान उठता है, उसे ग्राम, नगर, प्रदेश अथवा राष्ट्र की न्यायपालिकाएं शान्त नहीं कर पातीं, अपितु अशान्ति के झंझावात से वे स्वयं भी अतिशय भाराक्रान्त होकर अपनी असमर्थता को स्वीकार करने लगीं हैं। वर्तमान शताब्दी के समाजशास्त्री इस संघर्ष और अशान्ति के समाधान करने का अथक प्रयास करके भी असफल हो रहे हैं और उनके द्वारा स्थापित समाजवाद के आदर्श को अपनाकर चलने वाली बड़ी-बड़ी इकाईयां निरन्तर बिखर रही हैं। सोवियत रूस का विघटन इसका ज्वलन्त श्प्रमाण है।

भारत के प्राचीन मनीषियों ने उत्कट साधना से प्रसूत विवेक (ऋतम्भरा प्रज्ञा-योगज ज्ञान) के द्वारा सुदूर भविष्य में उठने वाली इन समस्याओं को पहचाना था और मानव समाज को उनसे सुरक्षित बनाये रखने के लिए कुछ उपाय प्रस्तुत किये थे। उनके अनुसार समाज की समस्त समस्याओं का कारण लोभ, मोह आदि मानस विकार होते हैं। इन मनोविकारों का कारण प्रेममय वातावरण में जीने वाला मधुर मानव हिंसक और क्रूर हो उठता है।[1] वह सरल और सहज जीवन जीना छोड़कर दल-प्रपंच को अपना लेता है। सन्तोषपूर्ण तृप्त जीवन के स्थान पर अनन्त लालसाओ, कामनाओं से ग्रस्त होकर भटकने लग जाता है। प्राचीन भारत के प्राय: सभी सम्प्रदायों के मनीषियों ने विद्वेष और अशान्ति के इस मूल को समान

रूप से देखा था और उनका निर्विवाद रूप से परस्पर अभिन्न एक मार्ग सुझाया था, जैन परम्परा ने सर्वप्रथम इसे अणु या महाव्रत के रूप में स्वीकार किया[2], तो बौद्ध परम्परा ने दश मूल शिक्षाओं में इन्हें प्रतिष्ठित किया।[3] वैदिक परम्परा के मनु और पंतजलि आदि ने इन्हें यम के नाम से सार्वभौम महाव्रत माना है।[4] अहिंसा आदि महाव्रतों के प्रतिपक्षी हिंसा, असत्य (छल-छद्म), स्तेय (परस्वापहरण), अब्रह्मचर्य (कामुकता) और परिग्रह अर्थात् लोभ, मोह पूर्वक अनन्त साधन-सामग्री का संग्रह; ये मानव की अनन्त समस्याओं के मूल हैं। प्रस्तुत आलेख में हम परिग्रह के दुष्परिणामों तथा अपरिग्रह के माध्यम से मानव की बहुविध समस्याओं के समाधान के रूप पर विचार करेंगे।

परिग्रह का अर्थ है कम या अधिक, छोटे या बड़े, सचित्त या अचित्त विद्यमान या अविद्यमान बाह्य द्रव्यों अथवा आभ्यन्तर भावों के प्रति आसक्ति एवं ममत्व का अनुभव करते हुए चित्त का लोभ-मोह से मूर्च्छित होना।[5] अपरिग्रह का अर्थ है अमूर्च्छा।[5] अपरिग्रह व्रत (अणुव्रत और महाव्रत) के पालन में इन सबके प्रति आसक्ति; ममत्व (मूर्च्छा) का परित्याग करना अभीष्ट होता है। ममत्व की परतें जितनी सघन होती हैं, निर्मलता पर उतना ही सघन आवरण रहता है। साधक के पास जो वस्त्र, पात्र, कम्बल, पाद प्रोंछन आदि, यहां तक कि पीछी और कमण्डलु, जो संन्यास धर्म के अनिवार्य उपकरण हैं, के प्रति भी ममता (आसक्ति) रूपी मूर्च्छा का विसर्जन अभीष्ट है। इन सांसारिक या धार्मिक उपकरणों के प्रति रागवश अपनत्व या स्वामित्व की कल्पना होने से उनकी प्राप्ति में हर्ष और अप्राप्ति में पीड़ा का जन्म होता है तथा हर्ष और पीड़ा के प्रति लगाव या दुराव अनेक प्रकार के संघर्षों को जन्म देता है। परिग्रह के मूल में लोभ और मोह रहा करते हैं। एक बार उत्पन्न हुए लोभ की फिर कोई सीमा नहीं होती कामनाएं निरन्तर वैसे ही बढ़ती चली जाती हैं, जैसे घृत की आहुति से अग्नि।[6] जिसके फलस्वरूप समाज में बड़ी-बड़ी विषमताएं, बैर-विरोध और संघर्ष उत्पन्न होते हैं। चारों ओर अशान्ति का साम्राज्य छा जाता है। सामाजिक नियम अथवा राज-व्यवस्था द्वारा परिग्रह की भावना का उन्मूलन कभी सम्भव नहीं है। इसी कारण परिग्रहमूलक विषमताओं, संघर्षो और अशान्ति का शमन समाज व्यवस्था अथवा राजव्यवस्था द्वारा न कभी हो सका है और न कभी हो सकेगा। इसीलिए

धर्मसंस्था ने मनुष्य की आभ्यन्तर चेतना को जागृत कर परिग्रह-वृत्ति पर नियमन करने का प्रयत्न किया है। आभ्यन्तर चेतना के जागृत होने पर सामान्य मनुष्य भी साधना में प्रवृत्त होता है और उसके उच्च और उच्चतर शिखर पर पहुंचता है। इस तथ्य को केन्द्र में रखकर जैनमनीषियों ने परिग्रह के प्रतिपक्षभूत अपरिग्रह की साधना को अणुव्रत और महाव्रत के रूप में पालनीय माना है।

सामान्य गृहस्थ के कर्तव्यों में परिवार का भरण-पोषण, सामाजिक व्यवस्थाओं के संचालन में योगदान, आश्रयहीन जीव-जन्तुओं, कीट-पतंगों का पालन, साधु-संतों और मुनिजनों के निर्विघ्न साधना-सम्पादन के लिए उनके आहार आदि की व्यवस्था इत्यादि बहुत कुछ सम्मिलित है। वे ही सम्पूर्ण समाज के आश्रय उसी प्रकार होते हैं, जैसे नदियों का आश्रय समुद्र होता है।[7] इसलिए उनके लिए कुछ परिग्रह धर्म-साधन के रूप में अनिवार्य बन जाता है, परन्तु वहीं साधनों के प्रति ममता (आसक्ति) मोह और और लोभ विषमता, संघर्ष और अशान्ति को जन्म देते हैं। अतएव गृहस्थों के पास परिग्रह होते हुए भी वह संयमित हो, संतुलित हो, इसे ध्यान में रखकर जैन मुनियों ने उनके लिए अणुव्रत के रूप में अपरिग्रह को पालनीय माना है। जैसा कि पहले कहा गया है कि परिग्रह के साथ-साथ मोह-ममता बनी ही रहती है और यह मोह-ममता मन का एक सहज धर्म है। इसलिए मनीषियों ने मन के संयम की ओर विशेष ध्यान दिया है। मन को समझाने के लिए उन्होंने तर्क दिये हैं कि सांसारिक भोग की सामग्री साधनभूत परिगृहीत सामग्री अचिर स्थायी है, विनाशशील है, उसका वियोग तो होना ही है। उसके प्रति आसक्ति होने पर वह साधनसामग्री-वियोग पीड़ादायी होगा, तो क्यों न अनासक्त भाव से उसका त्याग किया जाये।[8] मन में इस प्रकार के चिन्तन के अंकुरित होकर विकसित और पुष्ट होने पर मन के अधीन होकर कार्य करने वाली इन्द्रियां विषयों की ओर आकृष्ट नहीं होतीं, क्योंकि इन्द्रिय रूपी सेना के अध्यक्ष मन में विषयों के प्रति आसक्ति समाप्त हो चुकी होती है।[9] जिस प्रकार प्रत्यक्ष युद्ध में वीरतापूर्वक युद्ध करती हुई सेना भी सेनापति के मारे जाने पर स्वामीहीन होकर भयभीत और निराश हो जाती है तथा युद्धभूमि को छोड़कर भाग खड़ी होती है, उसी प्रकार विषय-वासना रूपी युद्धभूमि में मन के अनासक्त हो जाने पर, दूसरे शब्दों में विषयों के प्रति मन के

मर जाने पर इन्द्रियां विषय वासनाओं में नहीं टिकतीं, वे भी वहां से भाग खड़ी होती हैं-

मणणरवइणो मरणे मरंति सेणाइं इंदियमयाइं।
ताणं मरणेण पुणो मरंति णिस्सेसकम्माइं।।[10]

विषयों के प्रति मन में आसक्ति रहने पर इन्द्रियां असंयत होकर विषयोपभोग के लिए भागती हैं।[11] फलतः मनुष्य आपत्तियों से घिर जाता है। अनेक प्रकार के संघर्षों में पड़कर अपनी शान्ति खो बैठता है। अतः साधक परम्परा ने इन्द्रियों के संयम को ही सुखों का मूल माना है। कहा भी गया है-

आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः।
तज्जयः संपदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम्।।[12]

जैन परम्परा के इस अपरिग्रह सिद्धान्त की मूलभूमि को श्रीमद्भगवद्गीता में बहुत मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। वहां कहा गया है कि परिग्रह से प्राप्त होने वाले, दूसरे शब्दों में परिग्रह से अभीष्ट विषयोपभोगों का चिन्तन करने मात्र से उनके प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है। विषयों के प्रति आसक्ति कामना को जन्म देती है। यह अनिवार्य नहीं है कि कामना सदा सम्पूर्ण रूप से पूर्ण हों। ऐसी स्थिति में कामी के हृदय में क्रोध भभक उठता है। क्रोध से सम्मोह का जन्म होता है, अर्थात् क्रोध से विवेक विलीन होने लगता है, जिसका परिणाम होता है स्मृतिभ्रंश। स्मृतिभ्रंश का उत्तररूप है बुद्धिनाश और बुद्धिनाश का परिणाम है सर्वनाश।[13] यहां गीताकार का तात्पर्य यह है कि परिग्रह सर्वनाश का कारण है, इसलिए जो सर्वनाश से बचना चाहते हैं, उन्हें अपरिग्रह का पालन अनिवार्य रूप से करना चाहिए।

परिग्रह का अर्थ केवल स्थूल रूप से भोग-साधनों का संग्रह ही नहीं है, अपितु मन और वचन से भी उनके प्रति आसक्ति है। एक सामान्य गृहस्थ जो अणुव्रत के रूप में अपरिग्रह का पालन करता है, वह अपेक्षित साधन-सामग्री का न केवल मन और वचन से, अपितु स्थूल रूप से भी परिग्रह तो करता है, परन्तु उसके प्रति आसक्ति नहीं रखता। इसीलिए वह परिग्रह करते हुए भी क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधन-धान्य दास-दासी घरेलू उपकरण के सम्बन्ध में एक प्रमाण निश्चित करता है कि मैं इस मात्रा से

अधिक (खेत), घर, सुवर्ण-आभूषण, धन-धान्य, दास-दासी तथा अन्य घरेलू उपकरणों को संगृहीत नहीं करूंगा और इस निर्धारित सीमा का वह आजीवन पालन करता है। स्थूल रूप से इनका पालन करता हुआ, यदि वह मन से भी परिग्रह करने को सोचता है तो उसे अतिचार कहा जाता है। अतिचार का स्वरूप इस प्रकार हो सकता है, मान लीजिए एक व्यक्ति ने क्षेत्र और वास्तु के सम्बन्ध में परिमाण निर्धारित किया कि मैं एक खेत से अधिक खेत या एक घर से अधिक घर नहीं रखूंगा। इस निश्चय के अनुसार उसने अन्य खेतों और घरों को त्याग भी दिया; किन्तु कालान्तर में उसके खेत के पास एक और खेत सुलभ हो जाता है एवं उसके घर के पास एक और घर उसके अधिकार में आ जाता है। उस समय उस व्यक्ति के मन में लोभ उत्पन्न हो जाता है और वह निर्धारित प्रमाण का स्थूल रूप से पालन करने के लिए दोनों खेतों के बीच की विभाजक रेखा को मिटाकर दो खेतों को एक बना लेता है। दोनों घरों के मध्य की सीमा-भित्ति को तोड़कर उन्हें एक घर के रूप में परिणत कर देता है। इस स्थिति में वह क्षेत्र, वास्तु प्रमाण का स्थूलत: पालन अवश्य कर रहा है, परन्तु इसे क्षेत्र-वास्तु प्रमाण का अतिचार ही कहा जायेगा। इसी प्रकार सुवर्ण-आभरण, धन-धान्य, दास-दासी और घरेलू उपकरण आदि के प्रमाण-निर्वाह के लिए अतिरिक्त नवीन प्राप्त को किसी प्रकार प्रमाण में लाना अथवा किसी अन्य के घर सुरक्षित कर देना धन-धान्य, दास-दासी, कुप्य आदि का अतिचार माना जायेगा। इन सभी अतिचारों में मानसिक परिग्रह का अधिक महत्त्व है।[14]

अपरिग्रह महाव्रत के पालन में महाव्रतों की निम्नलिखित पांच भावनाएं बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। ये भावनाएं हैं-पांचों ज्ञानेन्द्रियों के विषयों में से प्रिय के प्रति राग और अप्रिय के प्रति विद्वेष का पूर्णतया परित्याग। इन भावनाओं को श्रोत्रेन्द्रिय रागोपरति, चक्षुरिन्द्रिय रागोपरति, घ्राणेन्द्रिय रागोपरति, रसनेन्द्रिय रागोपरति और स्पर्शेन्द्रिय रागोपरति नाम से जाना जाता है। इन पांचों भावनाओं में मनोज्ञ के प्रति राग के विसर्जन के साथ-साथ अमनोज्ञ के प्रति द्वेष का विसर्जन भी आवश्यक माना जाता है।[15] यहां प्रश्न हो सकता है कि अपरिग्रह के क्रम में अमनोज्ञ के प्रति द्वेष के विसर्जन को भावना में क्यों सम्मिलित किया गया है? क्योंकि विषय-भोग सामग्री चाहे मनोज्ञ हो या अमनोज्ञ, उसके प्रति द्वेष तो परिग्रह का कारण नहीं बनता।

इस आशंका का समाधान यह है कि राग और द्वेष एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जिस प्रकार अनुकूलता तटस्थता के प्रतिकूल है और मनोज्ञ वस्तु के प्रति राग की सूचक है, उसी प्रकार अमनोज्ञ के प्रति द्वेष भी तटस्थता के प्रतिकूल है और अनुकूल के प्रति राग-वृत्ति को सूचित करता है क्योंकि अनुकूल के प्रति राग के अभाव में अनुकूलता-प्रतिकूलता का बोध न होने से अमनोज्ञ के प्रति द्वेष होना सम्भव नहीं है। अमनोज्ञ के प्रति द्वेष की उत्पत्ति तभी हो सकती है, जब उसके विपरीत (मनोज्ञ) के प्रति राग हो। इसलिए जिस प्रकार राग परिग्रह का मूल है, उसी प्रकार राग के समानान्तर अमनोज्ञ के प्रति उत्पन्न होने वाला द्वेष भी परिग्रह का कारण है और इसीलिए उक्त पांचों भावनाओं में मनोज्ञ के प्रति राग और अमनोज्ञ के प्रति द्वेष को समान रूप से संगृहीत किया गया है।

जैन परम्परा में मूलतः परिग्रह के अनतरंग और बाह्य ये दो भेद किये गये हैं। इनमें अन्तरंग परिग्रह के 14 भेद हैं-मिथ्यात्व, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, क्रोध, मान, माया और लोभ। बाह्य परिग्रह के 10 भेद हैं-क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, यान, शयनासन, कुप्य और भाण्ड। इस प्रकार परिग्रह के कुल चौबीस भेद हैं।[16] यह भेद कल्पना अत्यन्त सूक्ष्म और मनोविज्ञान पर आधारित है। इन सब का मन, वचन और काय पूर्वक त्याग से ही अपरिग्रह महाव्रत सिद्ध होता है। उपर्युक्त अन्तरंग और बाह्य परिग्रहों का पूर्णविसर्जन क्रमशः चौदह गुणस्थानों में आरोहण के माध्यम से होता है।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि परिग्रह विषमता, संघर्ष और अशान्ति का कारण किस प्रकार है? इस प्रसंग में यह सुविदित होना चाहिए कि प्रकृति जहां विश्व के विविध प्राणियों को जन्म देती है, वहीं वह उनके आहार आदि के लिए अपेक्षित मात्रा में ही (न कम न अधिक) भोगसाधन भी प्रस्तुत करती है। जब मानव-समाज के कुछ व्यक्ति अनिवार्य अपेक्षा से अधिक साधन सामग्री संकलित कर लेते हैं, तो निश्चय ही दूसरी ओर कुछ लोगों के लिए अनिवार्य साधन-सामग्री का अभाव हो जायेगा। ऐसी स्थिति में असन्तोष और संघर्ष का जन्म होना स्वाभाविक है, जो अशान्ति का मूल कारण बनता है। भूख से तड़पता हुआ व्यक्ति, व्यक्तिविशेष के पास अपार भोजन-सामग्री को देखकर उसके प्रति

ईर्ष्या-द्वेष से युक्त होकर संचित भोजन को प्राप्त करने के लिए संघर्ष करे और हिंसा आदि क्रूर कर्मों को अपनाने लगे, यह अस्वाभाविक नहीं है। दूसरी ओर साधन-सम्पन्न व्यक्ति लोभ-मोह के कारण अपनी सम्पत्ति की रक्षा के प्रयत्न में उन क्षुधापीड़ितों के प्रति भी क्रूर हो जाये, यह भी सहज ही है। यह सब संघर्ष और अशान्ति का ही रूप है, जिसका जन्म परिग्रह के कारण हुआ है। संघर्ष, कलह, हिंसा और अशान्ति की स्थिति उत्पन्न न हो, इसीलिए महावीर स्वामी सहित प्राचीन भारत के सभी प्रबुद्ध विचारकों ने अपरिग्रह को सार्वभौम महाव्रतों में स्वीकार किया है। उन लोगों ने गृहस्थों के लिए भले ही प्रमाण-परिमाण का निर्धारण किया है परन्तु यति जनों के लिए सर्वपरिग्रह के निषेध को अनिवार्य माना है। जिन गृहस्थों को आंशिक रूप से धर्मसाधन के लिए परिग्रह की अनुमति भी दी है, उनके लिए भी यह निर्देश दिया है कि वे मनोज्ञ अथा अमनोज्ञ भौतिक साधनों के प्रति आसक्ति रहित हों। इस अनासक्ति को समय-समय पर परिपुष्ट करते रहने के लिए गृहस्थों के लिए दान रूप कर्तव्य को भी आवश्यक बताया है, जिससे समाज में विषमता का जन्म न हो सके। यदि थोड़ी बहुत विषमता अनुमत परिग्रह के कारण उत्पन्न भी हुई हो, तो दान आदि के कारण उसका विलय हो सके तथा समतावादी समाज की स्थापना हो सके।

यहां एक प्रश्न हो सकता है कि जिस प्रकार एक सामान्य गृहस्थ को आज किसी वस्तु की आवश्यकता होने पर उसके पास संगृहीत धन-सम्पत्ति के विनिमय से ही अपेक्षित वस्तु सुलभ हो पाती है, उसी प्रकार भविष्य में भी किसी अनिवार्य वस्तु को प्राप्त करने के लिए विनिमय ही एक मात्र उपाय विदित होता है और विनिमय के लिए आवश्यक है संग्रह अर्थात् परिग्रह। इस प्रकार भविष्य सुखमय हो, सुरक्षित हो, इसके लिए परिग्रह आवश्यक प्रतीत होता है।

वस्तुतः भविष्य की सुरक्षा के लिए परिग्रह का होना आवश्यक नहीं है। अनेक लोगों ने गृहस्थ जीवन में भी अपरिग्रह का समग्र रूप से पालन करते हुए भी पूर्ण आनन्दमय और सुरक्षित जीवन जीकर सामान्य गृहस्थों के लिए एक आदर्श प्रस्तुत किया है। इस दृष्टि से मिथिला के अयाची मिश्र की कथा (इतिहास) को उद्धृत किया जा सकता है।

मिथिला के प्राय: सभी विद्वान् अयाची मिश्र का नाम बहुत गर्व से लेते हैं और उनकी विद्वत्ता तथा निस्पृहता की प्रशंसा करते नहीं थकते। उनका वास्तविक नाम पं. जयदेव मिश्र था। एक दिन से अधिक के लिए भोजन सामग्री का संग्रह न करना उनका नियम था एवं कभी किसी से याचना न करना उनका व्रत था। अपने इस व्रत के कारण ही वे अयाची मिश्र के नाम से प्रसिद्ध हो गये थे। शास्त्रों का अध्ययन करने अथवा शास्त्र सम्बन्धी गुत्थियों के सुलझाने के लिए उनके यहां विद्यार्थियों और विद्वानों का तांता लगा रहता था। मिश्रजी अपने नित्य कर्म पूजा-पाठ आदि से निवृत्त होकर अपनी कुटिया में आसन पर बैठ जाते और आने वाले विद्यार्थियों तथा जिज्ञासुओं को क्रमश: पढ़ाते और उनकी शंकाएं दूर करते। विद्यार्थी और विद्वान् जिज्ञासु आते और पीछे बैठ जाते। जब पूर्व आगत जिज्ञासु उठकर चले जाते, तब पीछे वाले आगे बढ़कर मिश्रजी के सम्मुख अपनी जिज्ञासा प्रकट करते। यही वहां की परम्परा थी।

मिश्रजी की विद्वत्ता और अकिंचनता की ख्याति सर्वत्र प्रदेश में हो गयी थी। उस क्षेत्र के राजा के पास भी उनकी ख्याति पहुंची। राजा ने सोचा कि मेरे राज्य में इतना बड़ा विद्वान् गरीब रहे, यह मेरे लिए लज्जा की बात है। वह अपने महल से निकलकर मिश्रजी की कुटिया पर पहुंचा। वहां अनेक जिज्ञासु पहले से बैठे थे। वह भी प्रणाम करके सबसे पीछे बड़ी शालीनता के साथ बैठ गया। एक-एक करके जब आगे के लोग अध्ययन करके उठ गये, तब राजा ने आगे बढ़ कर पुन: पंडितजी को प्रणाम किया। मिश्रजी ने उससे पूछा-बोलो, तुम्हारी क्या समस्या है? राजा ने अपना परिचय देकर कहा कि मैंने आपकी विद्वत्ता और गरीबी दोनों के विषय में सुना है, मैं आपकी सेवा के लिए कुछ अन्न और कुछ ध न-सम्पत्ति लाया था, आप स्वीकृति दें तो मैं बाहर से उठवाकर रखवा दूं।

पं. जयदेव मिश्रजी ने अपनी पत्नी को आवाज़ लगायी और उसके आने पर उससे भण्डार का हाल पूछा। पंडितानी ने सन्तोष की मुद्रा में उत्तर दिया कि आज के लिए भरपूर सामान एक शिष्य घर में पहुंचा गया है। पंडितानी का उत्तर सुनकर मिश्रजी ने राजा से बहुत आदरपूर्वक कहा-महाराज! घर में सब कुछ है, आप किसी गरीब को यह दान देने की कृपा करें। राजा ने बहुत आग्रह किया कि कल के लिए या आगे के

लिए रख लें। परन्तु मिश्रजी को यह स्वीकार नहीं था। उनका उत्तर था जिसने आज तक मेरा प्रबन्ध किया है, उस प्रभु का अपमान होगा, यदि मैं कल की चिन्ता करूंगा। अतः आप कृपा करके वह सब ले जाएं, जो मुझे देना चाहते हैं, वह किसी और को दे दें जिसे इसकी आवश्यकता है।

आज समाज के निन्यानबे प्रतिशत लोग ही नहीं, लाखों में एक आध को छोड़कर प्रायः सभी लोग जीवन भर के लिए ही नहीं, अपितु आगे की सात पीढ़ियों तक के लिए धन-सम्पत्ति शीघ्र से शीघ्र एकत्र करने की सोचते हैं। इसी चिन्ता में व्यापारी सामानों में मिलावट करता है, मुनाफाखोरी एवं चोरबाजारी करता है तथा टैक्स की चोरी करता है, सरकारी कर्मचारी घूसखोरी करता है और राजनेता बड़े से बड़ा भ्रष्टाचार करता है। समाज का एक अन्य वर्ग लूट-खसोट, चोरी-डकैती और हत्याएं करता है।

इन सब अनाचारों के पीछे लोगों की यह मिथ्या विचारधारा, यह मिथ्यादर्शन कार्य करता है कि आज जितना धन संग्रह कर लेंगे, कल का हमारा जीवन उतना ही सुखी और सुरक्षित रहेगा। वस्तुतः धन का संग्रह करना जितना कष्टकर है, उसकी रक्षा की चिन्ता उससे अधिाक कष्टदायी है तथा धन के नष्ट होने पर जो अपार कष्ट होता है, वह कल्पनातीत है। आज समाचार पत्रों के पन्ने चोरी, डकैती और धन के कारण होने वाली हत्याओं के समाचारों से भरे रहते हैं। ऐसी हत्याएं किसी गरीब की नहीं होतीं, झुग्गी-झोपड़ी वालों की नहीं होतीं, परिग्रही लखपतियों और करोड़पतियों की होती हैं। तात्पर्य यह है कि मेहनत करके या छल-प्रपंच करके एकत्र की गयी धन-सम्पत्ति सुरक्षा नहीं, भय प्रदान करती है।

धन का सबसे अच्छा उपयोग है दान। बिना किसी स्वार्थ के, बिना किसी प्रत्याशा के परिचित-अपरिचित उन सभी के लिए अपने पास विद्यमान धन सम्पत्ति अथवा उपयोग साधनों का उपयोग करना जिनको उनकी आवश्यकता है। बैंक में जमा की गयी धनराशि की अपेक्षा इस प्रकार उपयोग किया गया धन अधिक सुरक्षित रहता है, आवश्यकता पड़ने पर अप्रत्याशित रूप से हमारे पास आ जाता है। अपेक्षा रहित होकर दिया गया दान समाज में प्रेम और सौमनस्य की प्रतिष्ठा करता है, भाई-चारा बनाता है, एक-दूसरे के हृदय को जोड़ता है। दान के माध्यम से जरूरतमन्द व्यक्तियों में वितरण करते रहने की समाज की प्रवृत्ति समाज

के प्रत्येक व्यक्ति में सुरक्षा और निश्चिन्तता की भावना को बद्धमूल करती है। प्रत्येक व्यक्ति आश्वस्त हो जाता है कि कल यदि विपन्नता ने मेरा द्वार खटखटाया, तो हमारा समाज हमें भी अपनी गोद में लेकर पूरा संरक्षण प्रदान करेगा। हीरे जवाहरात, सोना-चांदी अथवा बैंक बैलेंस कभी यह सुरक्षा नहीं दे सकता। इसलिए यदि हम पूर्ण सुरक्षा चाहते हें, शान्तिपूर्वक निभय जीवन जीना चाहते हैं, तो हमें दानशील (अपरिग्रही) बनना होगा। स्मरणीय है कि परिगृहीत धन-सम्पत्ति न साथ आयी है, न साथ जायेगी। दान के द्वारा जितना प्रेम प्राप्त कर लिया जायेगा, वही काम आयेगा।

समतावादी समाज का मुख्य उद्देश्य है : अनुचित राग और द्वेष का त्याग। दूसरों के साथ अन्याय तथा अत्याचार का व्यवहार नहीं करना; न्यायपूर्वक ही अपनी आजीविका सम्पादित करना; दूसरों के अधिकारों को हड़प नहीं करना, दूसरों की आजीविका को हानि नहीं पहुंचाना, उनको अपने जैसा स्वतन्त्र और सुखी रहने का अधिकारी समझकर उनके साथ भाईचारे का व्यवहार करना, उनके उत्कर्ष में सहायक होना, उनका कभी अपकर्ष नहीं सोचना, जीवनोपयोगी सामग्री को स्वयं उचित और आवश्यक रखना और दूसरों को रखने देना, संग्रह, लोलुपता, शोषण की वृत्ति का परित्याग करना आदि। कहने का तात्पर्य यह है कि जैन आचार्यो ने समतावादी समाज को आदर्श समाज के रूप में स्वीकार किया है और उसकी स्थापना के लिए अपरिग्रह को प्रधान हेतु माना है। जैन आचार्यो ने जितनी शक्ति अहिंसा पर लगायी है, उतना ही बल अपरिग्रह पर दिया है, क्योंकि अहिंसा की सिद्धि अपरिग्रह के मंत्र से ही हो सकती है। अपरिग्रह का पूर्णतया पालन होने की स्थिति में साधक, साधक न रहकर सिद्धकेवली हो जाता है।

सन्दर्भ

1. वितर्काः हिंसादयः........लोभमोहक्रोधपूर्वकाः मृदुमध्याधिमात्राः........इति प्रतिपक्षभावनम्। योगसूत्र 2/34
2. हिंसाऽनृतस्तेयब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्। देशसर्वतोऽणुमहती। तत्त्वार्थसूत्र, 7/1-2
3. पाणातिपातावेरमणीसिक्खापदं समादियामि। मुदावादावेरमणी.। अदिन्नादानावेरमणी.। अब्रह्मचरियावेरमणी.।-विसुद्धिमग्ग।

4. (क) यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो ....।। मनुस्मृति 4/204
(ख) अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः।
जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमाः महाव्रतम्। योगसूत्र 2/30-31
5 मूर्च्छापरिग्रह.।-तत्त्वार्थ सूत्र 7/17, दशवैकालिक 6/21
6 न जातु काम· कामाना उपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।। मनुस्मृति 2/94
7 यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिण सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्।। मनुस्मृति 6/90
8. अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वाऽपि विषया,
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून्।
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः,
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनंतं विदधति।। जैन तत्त्वमीमांसा पृ. 14 से उद्धृत
9. इंदियसेणा पसरइ मण-णरवइ-पेरिया ण संदेहो।
तम्हा मणसंजमणं खवएण य हवदि कायव्वं। आराधनासार 58
10. आराधनासार, 60
11. इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।। श्रीमद्भगवद्गीता 2/67
12. जैन तत्त्वज्ञानमीमासा, पृ. 17 से उद्धृत।
13. (क) ध्यायतो विषयान्पुंस. संस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रम.।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।। श्रीमद्भगवद्गीता 2/62-63
(ख) मनसश्चेन्द्रियाणा च यत्स्वस्वार्थे प्रवर्तनम्।
यदृच्छयेव तत्त ज्ञा इन्द्रियासंयमाविदु.।।
जैन तत्त्वज्ञानमीमांसा पृ 13 से उद्धृत
14 क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः। तत्त्वार्थसूत्र 7/29
15. (क) मूलाचार 5/144, चारित्तपाहुड 36, आचारांग 2/15, समवायाग समवाय 25
(ख) मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पंच। तत्त्वार्थसूत्र 7/8
16. मूलाचार 5/210-211, भगवती आराधना 1118-1119, तत्त्वार्थसूत्र 7/29, 8/9

पूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष
185, द्वारिकापुरी, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)-251001

●●

संयम : एक प्रायोगिक साधना

- विनोद कुमार जैन, टीकमगढ़

संयम एक सतत प्रायोगिक साधना की प्रक्रिया है। इस साधना की शुरुआत करने से पूर्व संयम शब्द का अर्थ एवं अर्थ-संलिप्त भाव (गूढ़गर्भित भाव) को समझना आवश्यक है।

संयम = सम् + यम

यम अर्थात् जीवन-पर्यन्त निर्वहन हेतु लिये जाने वाला व्रत। ऐसी प्रतिज्ञा जो जीवन भर के लिए धारण की जाती है।

सम्>सम अर्थात् समता। समता से स्पष्ट होता है कि निज भाव स्थिति में इच्छा-आकांक्षा, संकल्प-विकल्प रहित होकर इष्ट-अनिष्ट को एक समान ग्रहण करते हुए स्वाभावानुसार कृतित्व में दृढ़ता बनाये रखना। समता स्व से ही निसृत हो सकती है, आवरणित या थोपी हुई नहीं हो सकती। अधिक सूक्ष्मता से समझने के लिए सम का एक अन्य भाव ग्रहण करते हैं। सम से हुआ समन (शमन) अर्थात् इन्द्रियक विषय भोगों की तुष्टि, लिप्सा एवं गृद्धता आदि विकारी भावों का शमन, मतलब विकारी भावों को शांत करना या उनका उपशम होना। तो संयम शब्द को अब हम इस प्रकार परिभाषित कर सकते हैं "कर्मोदय के विपाक का निमित्त पाकर स्वभाव से परे उत्पन्न होने वालो विकारी भावों का शमन कर समतापूर्वक जीवन-पर्यन्त निर्वहन हेतु धारण किये गये व्रत को संयम कहते हैं।"

प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन्द्रियों का शमन ही क्यों करना व कैसे करना?

सामान्य भाव रहता है कि इन्द्रियों एवं मन का दमन करने से संयम आता है। दमन में इच्छाशक्ति की दृढ़ता को प्रमुखता प्राप्त है, जो अज्ञानभाव से भी हो सकती है। यह बात वेगवती बहती नदी की धारा पर बांध बनाने जैसी ही बात है, धारा के वेग के विपरीत अड़कर खड़े होने

जैसी बात है। इसमें तीव्र वेग की स्थिति में ध्वंस (पतित) हो जाने, बांध के टूट जाने की आशंका प्रबल रहती है। टूटन सदैव विध्वंस व विनाश की जन्मदात्री है जबकि शमन में विवेक को प्रमुखता प्राप्त है। विवेक = वि + वे + क

वि = विशिष्ट

वे = वेत्ता

क = क्रिया

तो विवेक से भाव स्पष्ट हुआ कि ऐसी क्रिया जो विशिष्ट वेत्ता द्वारा की जाय यानि विशिष्ट वेत्तात्मक क्रिया। सरल रूप में कहें तो विशेष ज्ञानयुक्त क्रिया। विशिष्ट ज्ञान वस्तु स्वरूप को जानने एवं उसका यथार्थ भाव ग्रहण करने से प्रकट होता है। वस्तु स्वरूप जाने एवं ग्रहण किये बिना हेय-उपादेय, कृत-अकृत की स्थिति स्पष्ट नहीं होती है। हेय को त्याग उपादेय को ग्रहण कर निजात्म स्वरूप का वेत्ता होकर की जानें वाली क्रिया ही धर्म है एवं इसी से मन एवं इन्द्रियों का शमन (शांति) होता है।

तो समग्र स्वरूप पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि ऐसा कर्म/कार्य जो मन एवं इन्द्रियों का शमन कर जीवन-पर्यन्त समता भाव से किया जा सके। उदाहरणस्वरूप किसी को कहा जाय कि चमड़े की वस्तुओं का त्याग कर दो तो उसके मन में तुरन्त प्रश्न उत्पन्न होगा, क्यों? यदि यही बात उसे सीधे न कह कर समझाया जाय कि किस प्रकार हिंसा का मार्ग अपना कर चमड़े को प्राप्त किया जाता है। इस प्रक्रिया में उस शब्द वर्गणा रहित जीवों का कितनी वेदना सहन करनी पड़ती है। उसको समझाया जाये कि स्व जैसा ही जीव तत्व उन पशुओं में भी विद्यमान रहता है। ऐसी वस्तुओं के उपयोग से स्वयं में हिंसादिक विकारी भाव उत्पन्न होते हैं और परिणामस्वरूप किस प्रकार बार-बार जन्म-मरण की यंत्रणा सहने को यह जीव मजबूर होता है। इसके अलावा चमड़े से इतर वस्तुओं का उपयोग करने से भी अभीष्ट कार्य विशुद्धिपूर्वक सम्पन्न हो जाते हैं, तो फिर ऐसा व्यक्ति स्वतः ही चमड़े के उपयोग से स्वयं तो विमुख होता ही है, दूसरों को प्रेरणा भी देता है।

अब देखिये, न तो प्रवाह की धारा को बांधना पड़ा, न ही धारा के विपरीत खड़ा होना पड़ा और यथेष्ट कार्य सम्पन्न हो गया। भाइयों! प्रवाह की धारा को बांधना संयम नहीं, अपितु प्रवाह की धारा को सही दिशा प्रदान कर देना ही संयम है। मन में सदैव भाव उत्पन्न होते रहते हैं, भावों की धारा पर सवार हो, बुद्धि को वाहनचालक बनाकर मन अकल्पनीय तीव्रता से विचरण करता है। मन के इस स्वच्छंद विचरण से आकांक्षा, लालसा एवं गृद्धता उत्पन्न होती है, जिससे पर-पदार्थो में प्रबल मोह जाग्रत होता है। विवेक के पैने अंकुश से जब मन के बुद्धि से जुड़े तंतुओं पर प्रहार होता है तब बुद्धि संयमित होती है। बुद्धि के संयमित होते ही मन की गति मंद हो जाती है। पुन: विवेक के अंकुश से दिशा पाकर मन दृष्टव्य दिशा में चलना शुरू कर देता है। सही दिशा प्राप्त होते ही दशा बदलने में देर नहीं लगती। दशा का बदलना ही संयम की पूर्णता है।

इस लब्धि की प्राप्ति को सुलभ करने हेतु अपने जीवन में एक क्रमगत प्रयोग की आवश्यकता पर बल देता हूं, जिससे जीवन की दिशा अवश्य ही परिवर्तित होगी। इस जीवन का कोई भी एक दिन चयनित कर प्रात: सोकर उठने से लेकर रात्रि को शयन से पूर्व तक किये गये प्रत्येक छोटे-बड़े कार्यो की सूची उन कार्यो में लगे समय के साथ लिख लें। अब प्रयोग की सामग्री तैयार है। आपके कृत की एक दिन की यह सूची ही आपके जीवन की दिशा परिवर्तित करेगी। कैसे?

सर्वप्रथम तो आने वाले दिनों में किसी भी एक दिन, जिस दिन आप अपेक्षाकृत शांत एवं प्रसन्न अनुभूत कर रहे हों, इसी सूची पर विचार एवं अध्ययन शुरू कर दें। यह क्रिया चार चरणों में पूर्णता को प्राप्त होगी।

प्रथम चरण में इस सूची पर मात्र लौकिक दृष्टि से ही विचार हो पायेगा। देखिये एवं स्वयं निर्णय कीजिये कि इस सूची में कितने कार्य बिल्कुल ही अनावश्यक कारित हुए हैं जिनको किये बगैर भी आपका जीवन आराम से चल सकता था। थोड़े से चिंतन से यह स्वयं ही स्पष्ट हो जायेगा तब अपने अगले दिनों की दिनचर्या से ऐसे अनावश्यक कार्यों को क्रमश: हटाते जायें। इस चरण की पूर्णता तक आप पायेंगे कि आपके पास अपने आवश्यक कार्यों के लिए अधिक समय है। परिणति में आप अपने आवश्यक कार्य अधिक शांति, तन्मयता एवं सफलतापूर्वक निष्पादित कर पायेंगे। इससे आपका विश्वास स्वयं में दृढ़ होगा तथा मन शांत होगा।

दूसरे चरण में अब उस सूची पर अधिक एकाग्रता से चिंतन संभव हो सकेगा अब देखिये कि किस-किस कार्य में आपने कितना-कितना समय लगाया है। क्या वास्तव में उतना ही समय लगना चाहिए था या फिर उससे कुछ कम समय में भी उसी कुशलता से उस कार्य के निष्पादन के लिए पर्याप्त है। आप पायेंगे कि वास्तव में आपने काफी समय व्यर्थ किया है, जो आप बचा सकते थे। इस समय को बचाने का अभ्यास करिये। समय की बचत के साथ ही आपकी ऊर्जा का अपव्यय भी रुकेगा। दूसरे चरण की पूर्णता तक आप पायेंगे कि आपके पास काफी समय एवं ऊर्जा बची रहती है।

प्रथम दो चरणों की क्रिया से अब आपके पास समय एवं ऊर्जा दोनों का सुरक्षित कोष हो गया है। इसी कोष के सदुपयोग से अब तीसरा चरण शुरू होता है। इस कोष का उपयोग ऐसे कार्यो में करना शुरू करिये जिससे मन संयमित, शांत हो सके, स्वभाव में दृढ़ता आये तथा लोक में कीर्ति भी फैले। ऐसे स्व, पर कल्याणकारी कार्य करना शुरू करें। सुपात्रों को दान, दया दान, देव,पूजन, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, शास्त्र श्रवण आदि-आदि। इस प्रकार के कार्यो से जहां एक ओर निज स्वरूप से निकटता में वृद्धि होगी वहीं दूसरी ओर जीवन में सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान एवं शुभ भावों की वृद्धि होगी। सम्यक् भाव आने से षट्काय के जीवों की रक्षा हेतु कृतसंकल्पित होंगे। जीवन में निकांक्षित कर्म का महत्व समझ सकेंगे। पाप प्रकृतियों का क्षयोपशम होगा, पुण्य प्रकृतियों के फलोदय में वृद्धि होकर पुण्याश्रवी उत्कृष्ट पुण्य प्रकृतियों का बंध होगा। इससे लोक में वैभव, कीर्ति, यश में वृद्धि को प्राप्त हो निर्शंकित रूप से धर्म मार्ग पर चलने की दृढ़ता स्वमेय वृद्धि को प्राप्त होगी।

तृतीय चरण की पूर्णता से हुई शुभ भावों की वृद्धि का अवलम्ब ले चतुर्थ चरण, जो मुख्यत: ध्यान एवं चिंतन का चरण है, की शुरुआत करिये। सोचिये, अनादिकाल से दूसरों पर दया, करुणा करता आया हूं, पर-पदार्थों को जानने का पुरुषार्थ करता आया हूं। क्या आज तक दूसरों पर करुणा, दया कर पाया? क्या पर की दशा, पर का परिणमन परिवर्तित कर पाया? क्या वास्तव में पर-पदार्थो का परिणमन परिवर्तित कर पाना संभव है? या वे सब अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की सीमाओं में सीमाबद्ध होकर स्वतंत्र, निर्बाध परिणमन कर रहे हैं? इन प्रश्नों पर चिंतन

से यही सत्य उद्भाषित होगा कि अनादि से किये गये मेरे प्रयत्न वृथा हैं। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में प्रवेश ही संभव नहीं है। एक द्रव्य दूसरे का कर्ता हो ही नहीं सकता। प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूपी मजबूत चारदीवारी से निर्मित महल में स्वच्छंद परिणमन करता है। मात्र यह जीवन द्रव्य ही है जो भावरूपी दीवार में मोहरूपी खिड़की से पर द्रव्यों, उनकी क्रियाओं एवं परिणमन को देख-देख कर उनसे मोहाविष्ट हो तादात्म्य स्थापित करने के मिथ्याभिमान को ग्रहण कर उन क्रियाओं का कर्ता स्वयं को मानने की भूल कर बैठता है। बस यहीं से जीव के भोक्ता होने की अनवरत क्रिया चल पड़ती है। कर्ता भाव आते ही आश्रव एवं बंध के क्षेत्राधिकार में फंस कर उनके कुचक्र का हिस्सा बन जाता है। कर्म प्रकृतियों के उदय के विपाक का निमित्त पाकर आत्म प्रदेशों में उत्पन्न स्पंदन से निर्विकल्प न रह पाकर अपना समग्र उद्वेलित कर लेता है, फिर आश्रयभूत पदार्थो को निमित्त मानकर उनमें रागद्वेष करता हुआ आश्रव-बंध उदय के जाल में ठीक उस मकड़ी की तरह, जो स्वनिर्मित जाले के विस्तार की चाह में बाहर निकलने का तंतु भूल उसी जाले में फंस कर भ्रमित होती हुई प्राणों का उत्सर्जन कर देती है, यह जीव जन्म-मरण के जाल में उलझ चौरासी लाख योनियों के चक्र में फंस कर रह जाता है।

चिंतन से प्रकट यह सत्य ध्यान की दिशा बदल देता है। ध्यान अब परापेक्षी न रहकर निजात्म स्वरूप को जानने एवं उससे तादात्म्य स्थापित करने के पुरुषार्थ में रत हो जाता है। मृत ज्ञान का अवलम्ब छोड़ निज ज्ञान प्रकाश में, तत्व, अर्थ एवं स्वरूप का सत्य खोज डालता है। तब ज्ञान, ज्ञान से ज्ञान का परिचय करा देता है। बंधुओं, पर को जानने के प्रयत्न अनादि से करते हुए भी पर को जान नहीं पाये अपितु मोह-मिथ्यात्व में ही उलझ कर रह गये। मगर स्वयं को जानने के उपरांत पर को जानने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है क्योंकि स्वात्म प्रकाश में पर अपनी समस्त पर्यायों के साथ युगपत् प्रतिभाषित होता ही है।

तो ज्ञान जब ज्ञान से ज्ञान को जान ले, बस तभी संयम स्वतः पूर्णता को प्राप्त हो जाता है।

-18, महादेव नगर, जयपुर-302021

पं. पन्नालाल जी "साहित्याचार्य" के कतिपय प्रेरक संस्मरण (उनकी लेखनी से)

- संकलनकर्ता-ब्र. विवेक जैन 'विचार'

स्वर्गीय पं. जुगलकिशोर जी मुख्त्यार, जैन श्रुत के अद्वितीय विद्वान थे। स्व सम्पादित ग्रन्थों के ऊपर उनकी लिखित प्रस्तावनाएं सर्वमान्य होती थीं, आप इतिहास के अप्रतिम विद्वान् थे। माणिक चन्द्र ग्रन्थमाला से प्रकाशित संस्कृत टीकायुक्त रत्नकरण्डक श्रावकाचार के ऊपर आपने जो ऐतिहासिक प्रस्तावना लिखी है, वह परवर्ती विद्वानों के लिए मार्गदर्शक हुई है।

आपने जिनवाणी के प्रकाशनार्थ सरसावा में वीरसेवा मंदिर की स्थापना की और उसके लिए अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया। आपके दर्शन का मुझे कई बार सौभाग्य मिला है।

सन् 1944-45 की बात होगी। सामाजिक निमन्त्रण पर मैं सहारनपुर के वार्षिक रथोत्सव में शामिल हुआ था, उस समय वहां स्व. पं. माणिकचन्द्र जी न्यायाचार्य भी विद्यमान थे। उत्सव के बाद मैं अपने सहपाठी मित्र पं. परमानन्द जी शास्त्री से मिलने के लिये सरसावा गया था, सन्ध्या के समय हम दोनों मित्र कहीं घूमने चले गये, जब रात को 9 बजे वापिस आये तब श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार बोले कहां चले गये थे? दोनों मित्र! हम आपकी प्रतीक्षा में बैठे हैं। विषय था रत्नकरण्डक श्रावकाचार को "मूर्धरुहमुष्टिवासो बन्ध पर्यङ्कबन्धनं चापि। स्थानमुपवेशनं वा समयं जानन्ति समयज्ञा" श्लोक की टीका में मैंने समय का अर्थकाल न लिखकर आचार लिखा था। "समयाशपथाचार काल-सिद्धान्त-सविद!" इत्यमरः। इस कोश के अनुसार समय का अर्थ आचार भी होता है। सामायिक करने वाले श्रावक को सामायिक में बैठने के पहले अपने केश तथा वस्त्रों को सम्हालकर बैठना चाहिये जिससे बीच में आकुलता न हो। बैठकर या खड़े होकर सामायिक की जा सकती है। हाथ की मुट्ठियां भी बंधी हों फैली न हों।

इस अर्थ को देखकर उन्होंने बड़ी प्रसन्नता प्रगट की काल का वर्णन तो अगले श्लोक में एक भक्त या उपवास के समय सामायिक विशेष रूप से करना चाहिए। दूसरे दिन उन्होंने प्रातःकाल वीरसेवा मंदिर सरसावा में ही मेरा शास्त्र प्रवचन रखा; शास्त्र प्रवचन में मैंने प्रकरण प्राप्त "अनेकान्त" की व्याख्या करते हुए कहा कि अनेक का अर्थ यह नहीं कि नीबू खट्टा भी है, पीला भी है और गोल भी है किन्तु परस्पर विरोधी नित्य-अनित्य, एक-अनेक आदि दो धर्म ही अनेक कहलाते हैं। विवक्षा के अनुसार उन दोनों धर्मो का परस्पर समन्वय किया जाता है। व्याख्या को सुनकर आप बहुत प्रसन्न हुए कि अनेकान्त के अनेक शब्द का परस्पर विरोधी दो धर्म अर्थ करना संगत है। परस्पर विरोध नित्य अनित्य एक अनेक अर्थ होते हैं।

आप समन्तभद्र स्वामी के बहुत ही भक्त थे। भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद् की ओर से आपका अभिनन्दन करने के लिए हम और पं. वंशीधर जी व्याकरणाचार्य मैनपुरी गये थे। उस समय वे वहां विद्यमान थे। सभा में उनकी सेवा में विद्वत् परिषद् की ओर से अभिनन्दन पत्र पढ़ा गया। अन्य विद्वानों ने भी उनकी सेवा में बहुत कुछ कहा-जब वे अपना वक्तव्य देने लगे तब कहते-कहते उनका गला भर आया और रुंधे गले से कहने लगे कि आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने हम लोगों का जो उपकार किया है वह भुलाया नहीं जा सकता। मुझे लगता है कि मैं पूर्व भव में उनके सम्पर्क में रहा हूं।

एक बार पूज्य गणेश प्रसाद वर्णी जी महाराज ईसरी में विराजमान थे। प्रसंगवश मैं भी वहां उपस्थित था। वर्णीजी ने आग्रह कर सोनगढ़ के निश्चयनय प्रधान प्रवचनों को लक्ष्य कर मुख्तार जी से कहा कि-आप तो विद्वान् हैं इस झगड़े को सुलझाइये, तब मुख्तार जी ने अपने वक्तव्य में कहा कि-जिनागम में निश्चय और व्यवहार, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो नयों के माध्यम से व्याख्यान किया जाता है। इसी प्रसंग पर अमृतचन्द्र स्वामी का पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ग्रन्थ में रचित श्लोक सुनाया-

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलम् शिष्यः॥

समयसार में आ. कुन्दकुन्द स्वामी ने जहां निश्चय की प्रधानता से कथन किया है वहां अनन्तर व्यवहारनय का भी कथन किया है। कुन्दकुन्द स्वामी की इस प्रवचन शैली पर आज तक किसी ने आक्षेप नहीं किया। परन्तु आज जो निश्चयनय की अपेक्षा जो

प्रवचन हो रहे हैं उनमें एकान्तवाद की झलक मिलती है इसी कारण विरोध हो रहा है, जन सामान्य तो विशेष प्रतिभा नहीं रखते इसलिए सब सुनते रहते हैं पर विशेष विद्वान् एकान्तवाद का विरोध करते हैं।

आदरणीय मुख्तार जी का मुझ पर विशेष प्रेम था और इसके कारण कई दुरूह स्तोत्र आदि की व्याख्या करने के लिए मुझे लिखते थे। "मरुदेवि स्वप्नावलि" ऐसा ही स्तोत्र है जिसका अर्थ लिखने के लिए मुझे पत्र लिखा। मैंने संस्कृत टिप्पण देकर उसका हिन्दी अर्थ कर उनके पास भेजा जिसे उन्होंने "अनेकान्त" पत्रिका में प्रकाशित किया। "स्तुतिविद्या" का अनुवाद प्रेरणाकर मुझसे करवाया और उसे अपनी प्रस्तावना के साथ प्रकाशित किया।

एक बार "अनेकान्त" पत्रिका के मुखपृष्ठ पर दधि विलोडने वाली गोपी का चित्र प्रकाशित किया। जिसे देखकर मैंने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ग्रन्थ के अंत में आये-

एकेनाकर्षन्ति श्लथयन्ति वस्तुतत्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥

इस श्लोक के आधार पर "जैनी नीति" नामक एक हिन्दी कविता लिखकर उनके पास भेजी थी जिसे उन्होंने प्रसन्नता के साथ "अनेकान्त" पत्रिका में प्रकाशित किया था। मेरी संस्कृत कविताओं को भी अनेकान्त में बड़े प्रेम से प्रकाशित करते थे। फलस्वरूप मेरे द्वारा लिखित सामायिक पाठ जिसमें विधिपूर्वक छह अंगों का वर्णन था आपने बड़ी प्रसन्नतापूर्वक अनेकान्त में छापा था। साथ ही लिखा था कि मुझे गौरव है आज के विद्वान् भी पूर्वाचार्यो की तरह संस्कृत में रचना करते हैं। आपने युक्त्यनुशासन स्वयम्भूस्तोत्र आदि कुछ ग्रन्थों का अनुवाद कर पृथक्-पृथक् पुस्तकों में छपाया है, आपके द्वारा लिखित मेरी भावना का जितना आदर देश में हुआ है उतना शायद ही किसी दूसरी कृति का हुआ हो। आचार्य महावीर परम्परा ग्रन्थ में आपके विचारों से कई स्थल सुलझे प्रतीत होते हैं।

आपके विचारों को पढ़कर आपके अगाध ज्ञान का स्वयं प्रमाण मिल जाता है। आप विद्वानों के आदर के लिए सदैव आगे रहते थे। इतने उच्चकोटि के विद्वान् होने के पश्चात् भी आप सदैव लघु बना रहना उचित समझते थे। वास्तव में आज आप जैसे विद्वानों का समागम बड़ा ही दुर्लभ है।

- श्री वर्णी दि. जैन गुरुकुल
पिसनहारी की मढ़िया, जबलपुर

●●

आर्यिकाएं और नवधा भक्ति*

- जस्टिस एम.एल. जैन

जैन गजट 19 अक्टूबर 2000 में छपे श्री बेनाड़ा व सेठिया के पत्र पढ़कर लगा कि जब दो आगम धुरन्धर आपस में टकरा जाएं तो जैसा सम्पादक जी का ख्याल है नतीजा निकाल पाना मुश्किल काम है खासकर हमारे जैसे अल्पश्रुतों के लिए इस बात पर कि आहार देने के पहले आर्यिकाओं की मुनियों की भांति अष्ट द्रव्य से पूजा करना सही है या गलत। साथ ही यह भी लगा कि पुरातन परिपाटी के बारे में महत्वहीन विवाद छेड़कर आखिर क्या हासिल किया जा रहा है। भला क्या यह भी विवाद का विषय है कि साध्वियों का सत्कार उस प्रकार नहीं होना चाहिए जिस प्रकार साधुओं का होता है और वह भी महिला आजादी के इस जमाने में। क्या ही अच्छा होता यदि परम विदुषी साध्वी ज्ञानमती जी की इस विषय पर व्यवस्था ले ली जाती और उसे सब मान्य कर लेते परन्तु शायद पुरुष साधुओं के भक्त समूह को यह बात मंजूर न हो कि महिला साधु कोई व्यवस्था देने की अधिकारी है। मैं तो ज्यादह हैरान हूं इस बात से कि हमारे समाज की जागरुक महिलाएं जैन साहित्य में भरे घोर नारी निंदा, मुक्ति निषेध यहां तक कि ध्यान निषेध तक को क्यों कर सहन कर रही हैं और अब तो 'स्वाध्यायी विद्वान' बेनाड़ा जी ने जैन वाङ्मय के निष्णात प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश जी सम्पादक जैन गजट के 'दो शब्द' में आर्यिका सुपार्श्वमती जी के समर्थन के साथ इस विषय पर एक ट्रेक्ट निकालकर साध्वियों के लिए प्रचलित आहार विधि के खिलाफ ही नहीं बल्कि उनके दर्जे के बारे में भी संघर्ष ही छेड़ दिया है। उनके विचारों का निचोड़ है-आर्यिका, आर्यिका है मुनि नहीं जिनको वे

*नवधाभक्ति विषयक मतवैभिन्य समाज में व्यर्थ का विवाद उत्पन्न कर रहा है। एतद्विषयक एक आलेख हमने पहले छापा था। उससे भिन्न मान्यता वाला यह लेख छापकर हम इस विवाद को विराम दे रहे हैं। समाज में/साधु संघों में जहां जो मान्यता प्रचलित है, उसमें विसंवाद उचित नहीं है।

''निष्पक्ष भाव'' से किए गए बतलाते हैं। मानों उन्होंने बड़ी भारी खोज कर डाली है। कोषकार मोनियर विलियम्स ने तो अपने संस्कृत कोष में दर्ज किया है कि मुनि शब्द पुरुष मुनि ओर महिला मुनि दोनों ही के लिए प्रयुक्त हुआ है। मेरे विचार में तो णमोकार मंत्र में 'लोए सव्व साहूणं' केवल पुरुष साधुओं तक सीमित करना भी उचित नहीं है; इन शब्दों में लोक की सारी महिला साधु (साध्वियां) भी समाहित हैं। स्वयं आचार्य वीरसेन ने साहूणं की कई व्याख्याएं की हैं उनमें सबसे अच्छी है-अनंत ज्ञानादि शुद्धात्म स्वरूपं साधन्तीति साधवः।

खैर, यह तो दिगम्बर विद्वान् मानते ही हैं कि जिनवाणी का अधिकांश लोप हो चुका है और जो कुछ बचा है वह है द्वितीय पूर्व अग्रायणी का अंश षट् खण्डागम के रूप में और पांचवें ज्ञानप्रवाद का अंश कषाय पाहुड़ के रूप में। ऐसी सूरत में सच तो यह है कि आरातीय आचार्यो द्वारा रचित शास्त्र आगम की कोटि में नहीं आते और उन्हें आगम तुल्य ही क्या आगम ही कह कर हम अपनी आगम हानि की पूर्ति कर रहे हैं। इसलिए पुराणों का भी महत्व बढ़ जाता है और पुराण भी प्रमाण का काम करते हैं। पुराणों में इतिहास कम व कल्पना की अधिक मिलावट के साथ-साथ द्रव्य, लोक रचना और सदाचरण के नियम भी समाविष्ट हैं। इसलिए उनमें लिखित आचरण की संहिताओं की अनदेखी नहीं की जा सकती। दरअसल यहीं से तो शुरू होती है आहार दान व पंचाश्चर्यो की घटनाएं।

साधुओं की दीक्षा का प्रसंग आदिपुराण 4/152 में सबसे पहले राजा अतिबल के दीक्षा ग्रहण करने का है परन्तु वहां पर उसके आहार दान ग्रहण के बारे में कुछ नहीं लिखा गया। इसके बाद वज्रजंघ के द्वारा आकाश गामी मुनिद्वय दमकर और सागर सेन को आहार देने के बारे में यों लिखा है-

श्रद्धादि गुण संपत्या गुणवद्भ्यां विशुद्धि भाक्।
दत्वा विधिवदाहारं पञ्चाश्चर्यमवाप सः॥ 8/173

वज्रजंघ ने विधिवत् आहार देकर पञ्चाश्चर्यो को प्राप्त किया। याने रत्न[1], पुष्प[2], जल[3], की बरसातें शीतल वायु [4] और अहो दानं की ध्वनि[5] ये पांच आश्चर्य हुए। परन्तु क्या विधि अपनाई थी यह नहीं बताया।

कालान्तर में यही वज्रजंघ हस्तिनापुर के राजा सोमप्रभ का भाई श्रेयांस कुमार हुआ। यह उस समय के करीब की बात है कि जब भगवान ऋषभदेव ने देखा-

अहो भग्ना महावंशा नव संयता।
सन्मार्गस्यापरिज्ञानात् सद्योऽमीभिः परीषहैः।।
मार्गप्रबोधनार्थञ्च मुक्तेश्च सुखसिद्धये।
कायस्थित्यर्थमाहारं दर्शयामस्ततोऽधुना।। 20/3-4

बड़े बड़े वंशों में उत्पन्न हुए नवदीक्षित साधु सन्मार्ग का परिज्ञान न होने के कारण क्षुधादि परिषहों के कारण शीघ्र ही पथच्युत हो गए इसलिए अब मोक्ष का मार्ग बतलाने के लिए और मुक्ति की सुखपूर्वक सिद्धि के लिए शरीर की स्थिति के अर्थ आहार लेने की विधि दिखाऊंगा।

फिर इस उद्देश्य से वे जंगल से बस्ती की ओर आए, तो कई लोगों ने तरह-तरह के तरीकों से भगवान् को भोजन के लिए निमंत्रित किया परन्तु विधि पूर्वक आहार न मिलने से भगवान् ने आहार नहीं लिया। तभी श्रेयांस कुमार को जाति-स्मरण हुआ और-

श्रद्धागुणसम्पन्नः पुण्यैः नवभिरन्वितः।
प्रादाद्भगवते दानं श्रेयान्दानादि तीर्थकृत्।।
प्रतिग्रहणमुच्चैः स्थानेऽस्य निवेशनम्।
पादप्रधावनञ्चार्चा नतिः शुद्धश्च सा त्रयी।।
विशुद्धिश्चाशनस्येति नव पुण्यानि दानिनाम्।
स तानि कुशलो भेजे पूर्वसंस्कारचोदितः।। 20/81,86,87

दानादि तीर्थ का प्रवर्तन करने वाले श्रेयांस कुमार ने श्रद्धा आदि गुणों सहित नवपुण्यों से सहित भगवान् को (इक्षु के रस का) दान किया। चतुर श्रेयांस कुमार ने पूर्व संस्कार से प्रेरित होकर दानियों के जिन नव पुण्यों का पालन किया था वे नव पुण्य (नवधा भक्ति) इस प्रकार हैं-

पड़गाहन[1], उच्चस्थान देना[2], चरण धोना[3], अर्चना[4], नमस्कार[5], मन[6], वचन[7], काय[8] और भोजन[9] की शुद्धियां। यहां पर पूजा शब्द का प्रयोग ही नहीं किया गया है। (बरबस मेरा ध्यान जाता है श्रीमद्भागवत 7/5/23 के

उस संदर्भ पर जहां नव लक्षणा भक्ति इस प्रकार बताई गई है-श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्म निवेदन की ओर)

इस दान तीर्थ प्रवर्तन में तो अर्चना अष्ट द्रव्य से करना ऐसा भी नहीं लिखा है। इस वृत्तान्त से पहले भगवान् के जन्माभिषेक के बाद सुरेन्द्रों ने उनकी पूजा गन्ध[1], धूप[2], अक्षत[3], कुसुम[4], उदक[5] व फलों[6] से याने छह द्रव्यों से, भगवान की दीक्षा के उपरान्त उनके बेटे भरत ने अष्ट द्रव्यों से भगवान की पूजा की थी। लेकिन केवलज्ञान होने के बाद इन्द्रों ने अमृत[1], गन्ध[2], माला[3], धूप[4] और अक्षत[5] याने पांच द्रव्यों से पूजा की थी। देखिए आदि पुराण 17/251-252, 23/201 व 23/106। लगता है समय पाकर पूजा का अर्थ अष्ट द्रव्यों से ही पूजा करना रूढ़ तो हो गया किन्तु दरअसल पूजा में हम भी जल[1], चंदन[2] (धूप में भी) चावल[3] (अक्षत व पुष्प) गिरी नारियल (नैवेद्य व दीप) और फल[5] ये पांच द्रव्य ही चढ़ाते हैं। भगवान् ने अपनी संतान को सारा ज्ञान-विज्ञान शास्त्र सिखाया ही था और आहार दान के पहले अष्ट द्रव्य पूजा सहित विधि का ज्ञान भी सिखाया ही होगा किन्तु सम्राट् भरत तक उसको भूल गए। भरत ने तो श्रेयांस कुमार से पूछा भी कि आपके भगवान् का अभिप्राय किस प्रकार जाना यह बताइए, आप तो आज हमारे लिए भगवान् के समान पूज्य हो (भगवानिव पूज्योऽसि कुरुराज त्वमद्य नः। आदि पुराण 20/127)।

खैर, यह तो हुई तीर्थकर मुनिराज की बात। अब देखना यह है कि क्या अन्य साधुओं को आहार दान के समय उनकी अष्ट द्रव्य पूजा का कोई विधान है और वह क्या महिला साधुओं को लागू नहीं किया जा सकता। इतना तो अवश्य है कि कितनी ही आचार संहिताओं के अनुकूल विधि अपनाइए पूरे आठों ही असली द्रव्य चढ़ाइए। पांच आश्चर्यो में से कोई होने वाला नहीं है।

गृहस्थ के जो कर्त्तव्य हैं, वे यों बताए हैं -

देवपूजा गुरुपास्ति स्वाध्यायः संयमस्तपः
दानं चेति गृहस्थानाम् षट् कर्माणि दिने-दिने
आराध्यन्ते जिनेन्द्रा गुरुषु विनतिः। पद्म. पञ्च. 6/7

इन कर्त्तव्यों में पूजा तो केवल देव की बताई है गुरुओं की उपासना व विनति। आशाधर ने भी 'देवं सेवेत् गुरून्' सा.ध. 2/23 में गुरुओं की सेवा करना ऐसा लिखा है। फिर यह भी जरूर लिखा कि-

पात्रागमविधि-द्रव्य-देश-कालानतिक्रमात्
दानं देय गृहस्थेन तपश्चर्या च शक्तितः। सा.ध. 2/48

अर्थात् गृहस्थों को पात्र, आगम, विधि, द्रव्य, देश व काल के अनुसार दान देना चाहिए और शक्ति के अनुसार तपस्या करनी चाहिए। विधि से मतलब नवपुण्य (नवधा भक्ति) लिया गया लगता है। जो नवपुण्य ऊपर बताए हैं उनमें से मेरे विचार में स्वागत, उच्चासन, पादप्रक्षालन, नमस्कार और शुद्धियों के बारे में तो किसी भी पण्डित या गृहस्थ को क्या एतराज हो सकता है, साधु चाहे पुरुष हो या महिला। मेरा ख्याल है कि तनाजा इस बात पर है कि पुरुष साधु ही अष्ट द्रव्य पूजा के अधिकारी हैं क्योंकि साधु (मुनि) की श्रेणी में वही आते हैं जो 'तन नगन' हैं और इसलिए सवस्त्र साधु या साध्वी अष्ट द्रव्य पूजा के अधिकारी नहीं हैं। यदि सवाल सामग्री की संख्या का ही है तो सात या नौ (9) द्रव्य चढ़ाकर हल किया जा सकता है। लगता है बेनाड़ा जी आर्यिकाओं की पूजा के ही विरोधी हैं। मेरे हिसाब से तो उससे भी बढ़कर सवाल है नारी का जैन-शासन व्यवस्था में स्थान व बराबर के सम्मान का।

भिक्षा प्रकरण में मनुस्मृति 6/58 के इस वचन से मैं तो सहमत हूं-

अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः।
अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बद्धयते।

-पूजापूर्वक मिलने वाली भिक्षा की सर्वदा निंदा (स्वीकार न) करें क्योंकि पूजा पूर्वक होने वाली भिक्षा प्राप्ति से शीघ्र मुक्त होने वाला यति भी बंध जाता है। कारण साफ है कि ऐसी भिक्षा में दानी के साथ लगाव पैदा हो जाता है और यति के वृथा अहं का पोषण होता है। पूजा और भोजन दान की मांगें अटपटी लगी ही होंगी मनु को।

पं. आशाधर निर्ग्रन्थता के बारे में और साधु-साध्वी की समानता के बारे में लिखते हैं -

कोपीनोऽपि सम्मूर्च्छत्वात् नार्हत्यार्यो महाव्रतम्
अपि भाक्तममूर्च्छत्वात् साटकेऽप्यार्यिकार्हति। सा.ध. 8/37

एक कोपीन मात्र में ममत्व भाव रखने से आर्य याने उत्कृष्ट श्रावक (ऐलक) भी (उपचरित) महाव्रती नहीं कहलाता जबकि आर्यिका साड़ी में भी ममत्व भाव न रखने से (उपचरित) महाव्रत के योग्य होती है। और यह भी कि -

बाह्यो ग्रंथोऽङ्गमक्षाणामन्तरो विषयैषिता
निर्मोहस्तत्र निग्रंथः पान्थः शिवपुरेऽर्थतः। सा.ध. 8/90

-शरीर तो बाह्य ग्रंथ है, इन्द्रियों की विषय अभिलाषा अन्तरंग ग्रंथ है, इन दोनों प्रकार के ग्रंथों में जो मोह रहित है वही वास्तव में शिवपुर का पथिक है। इसके मुताबिक सवस्त्र साध्वियां भी निर्ग्रथ की श्रेणी में आती हैं क्योंकि उनका शरीर व वस्त्र से कोई मोह नहीं है। मजबूरी उनकी यह है कि वे पुरुषों की दुष्टता की आशंका के कारण बहुत चाहते हुए भी वस्त्र का भार उतार नहीं सकतीं। अत: वे किसी नग्न मुनि के कम सत्कार की पात्र हैं, यह कहना मेरी समझ से तो बाहर की बात है।

बेनाड़ा जी तो आर्यिकाओं को आहार दान के लिए उत्तम पात्र भी नहीं मानते जब कि महापुराण 40/141 के अनुसार **सद्दृष्टिः शील सम्पन्नः पात्रमुत्तममिष्यते**, सम्यक्दृष्टि और शीलसम्पन्न व्यक्ति उत्तम पात्र होता है। इसके अलावा यह मामला अधिकार वितरण का नहीं है और सत्कार की कोई सीमा नहीं है।

वट्टकेर के मूलाचार में जिसे कुन्दकुन्द की रचना भी बताया जाता है यह लिखा है कि-

एसो अज्जाणपिअ समाचारो जहक्खिओ पुव्वं।
सव्वम्हि अहोरत्तं विभासिदब्वो जधाजोग्गं।। 4/187

-जैसा समाचार श्रमणों के लिए कहा गया है उसमें वृक्षमूल, अभ्रावकाश एवं आतापन आदि योगों को छोड़कर अहोरात्र संबंधी सम्पूर्ण समाचार आर्यिकाओं के लिए भी यथायोग्य रूप में समझना चाहिए।

एवं विधाणचरियं चरंति जे साधवो य अज्जाओ।
ते जगपुज्जं कित्तिं सुहं च लद्धूण सिज्झंति॥ 4/196

-इस प्रकार आचरण करने वाले साधु व आर्याएं जगत्पूज्य होकर कीर्ति, सुख को प्राप्त करके सिद्ध होते हैं।

भगवती आराधना के अनुसार कई स्त्रियां मुनियों द्वारा स्तुति योग्य देवताओं के समान पूज्य हुई हैं यथा-

सीलवदी ओ सुच्चंति महीयले पत्तपाडि हराओ।
सवाण्णुगह समत्थाओ वि य काओवि महलाओ॥ 992

किं पुण गण सहिदाओ इत्थिओ अत्थि वित्थडजसाओ।
णरलोग देवदाओ देवेहिं वि वंदणिज्जाओ॥
तित्थयर चक्कधर वासुदेव बलदेव गणधरवराणं।
जणणीओ महिलाओ सुरणर वरेहिं महियाओ॥ 989-990

मोहोदयेण जीवो सव्वो दुस्सील मइलिदो होदि।
जो पुण सव्व महिला पुरिसाणं होई सामण्णो॥ 995

-जो गुण सहित स्त्रियां हैं, जिनका यश लोक में फैला हुआ है, जो मनुष्यलोक में देवताओं के समान हैं और देवों से पूजनीय हैं उनकी जितनी प्रशंसा की जाए कम है। तीर्थकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव और श्रेष्ठ गणधरों को जन्म देने वाली महिलाएं श्रेष्ठ देवों व उत्तम पुरुषों के द्वारा पूजनीय होती हैं। सब जीव मोह के उदय से कुशील से मलिन होते हैं और वह मोह का उदय स्त्री पुरुषों के समान होता है।

शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव (697 श्लोक 12/57, 58) में कहा है -

ननु संति जीव लोके काश्चिच्छ्रम संयमोपेताः।
निजवंश तिलक भूता श्रुतसत्य समन्विताः नार्यः
सतीत्वेन वृत्तेन विनयेन च
विवेकेन स्त्रियः काश्चिद् भूषयंति धरातलम्

-अवश्य ही जीव लोक में ऐसी कई नारियां हैं, जो तप व संयम से युक्त हैं, अपने वंश की तिलक समान हैं श्रुत और सत्य से समन्वित हैं

वे अपने सतीत्त्व के महत्व से, सदाचार से व विवेक से धरातल को विभूषित करती हैं।

आदि पुराण 24/175-177 से पता चलता है कि भगवान् ऋषभ देव ने अपनी दोनों पुत्रियों व अनेक राजकन्याओं को दीक्षा दिलवाई थी, जिसमें से बड़ी पुत्री तो उनकी प्रमुख गणिनी भी बनी और देवों ने उनकी पूजा की। इसके बावजूद वनिता विरोधी जैन शास्त्र कहते हैं कि स्त्रियों के संयम नहीं है, न वे दीक्षा की हकदार और शील पाहुड़ (29) में तो हद कर दी -

सुणहाण गद्हाण व गोपसु महिलाण दीसदे मोक्खो।
जे सोधंति चउत्थं विच्छिज्जंता जणेहिं सव्वेहिं॥ 29

-श्वान, गधा, गाय और महिलाओं के मोक्ष होता किसी ने देखा है? इसे भी दे रहे हैं आगम का दर्जा। दरअसल सत्य तो यह है कि कोई भी पाहुड़ कुन्दकुन्द की कृति नहीं है और ये वचन उसी कोटि के हैं जैसे कि कोई कहे कि क्या वर्तमान काल में किसी गधे, कुत्ते, सुअर, बैल और पुरुष को भी मोक्ष होते देखा है किसी नारी विरोधी ने।

दर्शन पाहुड़ की जिस गाथा (18) ने बेनाड़ा जी ने अपने विचारों की नींव रखी है, वह इस प्रकार है -

एगं जिणवरस्स रूवं वीयं उक्किट्ठ सावयाणं
अवरट्ठियाणं तइय्यं चउत्थ पुण लिंगदंसणं णत्थि

इसका सीधा अर्थ है -

एक जिनवर का रूप
दूसरा उत्कृष्ट श्रावक
तीसरा अवरस्थित
चौथा कोई लिंग दर्शन में नहीं है।

अवरट्ठियाणं का अर्थ पूर्ववर्ती वनिता विरोधी विद्वानों के अनुसरण में किया गया है-जघन्य पद में स्थित आर्यिका, जब कि गाथा में न जघन्य शब्द है, न आर्यिका है, न ही है उत्तम मध्यम व जधन्य शब्दावली। यदि यही अर्थ सही है तो फिर श्राविकाओं और सामान्य श्रावकों का वेष कौन

सा होगा। मेरे ख्याल में मूलशब्द **अवसिट्टाणंच** रहा होना चाहिए। जिसका अर्थ होगा अवशिष्ट जन तीसरे वेष में गिने जाएं। इसका मतलब यह नहीं कि वे जघन्य य निम्न स्तर के हैं। आचार्य ज्ञानसागरजी ने तत्त्वार्थ सूत्र 10/9 की टीका में लिखा है कि लिंग वेशभूषा को भी कहते हैं जो सहज रूप से ही मुक्ति होती है, किन्तु वही अगर उपसर्गापन्न हो तो और हालत में भी मुक्त हो सकता है जैसे कि पाण्डवों की मुक्ति बैरी के द्वारा पहनाए गए हुए गरम लोहे के आभूषणों को पहने-पहने ही हो गई थी।

बेनाड़ा जी ने यह नहीं बताया कि उत्कृष्ट श्रावक किसे कहते हैं-आदि पुराण 10/158-161 (नवीं सदी) से पता चलता है कि ग्यारहवीं उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा श्रावक का उत्कृष्ट पद है जिसमें गृहस्थ अवस्था का परित्याग नहीं होता था। ग्यारहवीं सदी के वसुनन्दि श्रावकाचार में पहली बार ग्यारहवीं प्रतिमा के दो भेद प्रथमोत्कृष्ट व द्वितीयोत्कृष्ट किए गए। सोलहवीं शताब्दी में राजमल जी ने लाटी संहिता में उनके लिए क्रमशः क्षुल्लक व ऐलक शब्द का प्रयोग किया। (जै.सि. कोश भाग 2 पृ. 188 क्षुल्लक) मुनि प्रमाण सागरजी की सद्य: प्रकाशित पुस्तक ''जैन धर्म और दर्शन'' पृ. 296 के अंत में सही लिखा है कि आर्यिकाएं क्षुल्लक, ऐलक से उच्च श्रेणी की मानी जाती हैं। अब क्षुल्लक ऐलक को गृह त्याग करना होता है। आर्यिकाओं को पहले हर तरह से निचली श्रेणी में डालने, असंयमी व अवन्दनीय व पूजा के अयोग्य साबित करने के बावजूद बेनाड़ा जी अंत में लिखते हैं कि उनका आशय पूज्य आर्यिकाओं की विनय व सम्मान में कमी करने का नहीं है और यह भी कि श्राविकाओं से आर्यिकाएं महान् हैं। वे भक्ति-भाव से उनका दर्शन व विनय भी करते हैं किन्तु आहार देने के विषय में उन्हें मुनि तो कतई नहीं मुनिवत् भी मानने को तैयार नहीं हैं। यद्यपि आर्यिकाओं के प्रथम चार महाव्रत तो सम्पूर्ण हैं तो फिर भला वे चलोपसृष्ट भाव लिंगी मुनि क्यों नहीं हैं? यही हाल है विरोधाभास का तमाम वनिता विरोधी शास्त्र रचने व व्याख्यान करने वाले आरातीय आचार्यों का व विद्वानों का।

इस वनिता विरोध की हद का उदाहरण देखिए दशलक्षण धर्म की पूजा में जब वे ब्रह्मचर्य की पूजा में कविवर द्यानतराय जी के साथ भक्ति विभोर होकर गाते हैं-

कूरे तिया के अशुचि तन में काम रोगी रति करें
बहु मृतक सड़हिं मसान माहीं, काग ज्यों चोंचें भरें।
संसार में विष वेलनारी तजि गए जोगीश्वरा।

अष्ट द्रव्य पूजा के दीवाने जब यह गाते हैं तो क्या वे जानते हैं कि वे तीन ज्ञान के धारी तीर्थकरों को जन्म देने वाली माताओं का और ऋषभ देव का जिनने एकाधिक पत्नियों से दो पुत्रियां व एक शत पुत्र पैदा किए, किस भाषा में कितना अपमान कर रहे हैं। सामान्य स्त्रियों में अपनी "माता बहन सुता पहचानों" की और उनके अपमान की बातें तो अलग रहीं। इन जैसे इक तरफा विचारों से अपनी असहमति दिखाते हुए शिवार्य ने तो भगवती आराधना में लिखने का साहस किया भी कि -

जहसील रक्खयाणं पुरिसाणं णिंदिदाओ महिलाओं
तहसील रक्खयाणं महिलाणं णिंदिदा पुरिसा। 988

जैसे अपने शील की रक्षा करने वाले पुरुषों के लिए स्त्रियां निंदनीय हैं वैसे ही अपने शील की रक्षा करने वाली स्त्रियों के लिए पुरुष निंदनीय है।

यदि अपनी कमजोरी पर काबू पाने के लिए दूसरे की निंदा से ही व्रत रक्षण होता है तो क्या इसके लिए अपनी आत्मा के परिणामों में घोर घृणा व कषाय पैदा करना किसी तरह उचित है? क्या अच्छा नहीं कि दोनों ही निर्विकार रहें।

इसके अलावा सामान्य पूजा विधि में आह्वान, स्थापना, सन्निहिति व विसर्जन होते हैं। जब मुनि (या साध्वी) सामने उच्चासन पर विराजमान हैं तो फिर कैसा अवतर, अवतर! कैसा ठः ठः! कैसा सन्निहितो भव और आहार ग्रहण के पहले कैसा विसर्जन! जिन साधुओं को आहार करना पड़ता है, उनको "क्षुधारोगविनाशाय नैवेद्यं" अर्पित करना, जिनके आठों ही कर्मो का बंधन बना हुआ है 'उनको अष्ट कर्म दहनाय' धूप चढ़ाना/जलाना और जिनने स्वयं अनर्घ पद प्राप्ति के लिए साधु वेष धारण किया है उनको अनर्घ पद प्राप्तये अर्घ का निर्वापन करना कैसे सही ठहरता है? अतः पूजा की मुख्य विधि, आहार के लिए निर्मंत्रित अतिथि के मामले में चाहे वह साधु पुरुष हो या महिला संभव नहीं है। अतः नर साधु या नारी साध्वी दोनों ही प्रचलित (अष्ट द्रव्य) पूजा के अधिकारी नहीं है।

इसके बावजूद मेरा निवेदन यह है कि -

(1) यदि कोई आहार देने वाला किसी साध्वी या साधु का सम्मान अष्ट द्रव्य पूजा से नहीं करता, तो अतिथि साधु/साध्वी आहार ग्रहण न करे और अंतराय का तीव्रोदय समझ कर वापस हो जाए। आखिर यतिवर वृषभ देव ने भी तो यही किया था।

(2) यदि कोई सद्गृहस्थ आर्यिकाओं का भी साधुओं की तरह अष्ट द्रव्य पूजा से सम्मान करना चाहता है और अतिथि आर्यिका उसे स्वीकार करती है तो भला इसमें कोई क्यों एतराज कर सकता है और इसमें शास्त्र विरोधी क्या बात है! अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि कुछ ज्यादह ही सम्मान दे दिया। शास्त्र में कोई मनाही भी तो नहीं हैं। नारियों के लिए अपवाद करना होता तो कोई लिखता। आर्यिका का नग्न मुनि के समान आहार सत्कार करने में न तो तत्वार्थ श्रद्धान में हानि होती है, और न ही यह ऐसा कार्य है जिससे अशुभ कर्म का बंध हो। आखिर आहार देने या न देने, सम्मान कितना देने या न देने में किसी को, मजबूर तो नहीं किया जा सकता।

(3) अतः दाता को अच्छी लगने वाली प्रचलित परिपाटी में दोष निकालकर गृहस्थों को उसमें परिवर्तन के हित प्रेरित करने के लिए शास्त्र विरोध का डर दिखाना कोई समझदारी नहीं है, खासकर नर-नारी समानता के इस युग में।

(4) आचार संहिताओं के नियम तो समयानुकूल, देशानुकूल बदले जा सकते हैं यदि वे मूल सिद्धान्त अहिंसा, संयम तथा सम्यक्त्व के प्रतिकूल न हो। आखिर अष्ट द्रव्य पूजा में किया ही क्या जाता है; जरा विचार तो कीजिए; उदाहरण के लिए, देखिए 'अरिहंत श्रुत सिद्धान्त गुरु निरग्रंथ' पूजा में -

'वर नीर क्षीर समुद्र घट भरि' पूजा रचूं' और चढ़ाते क्या हैं, कुओं का पानी;
'भ्रमर लोभित चन्दन घिसि' पूजा रचूं। हमने तो मंदिरों में भ्रमर नहीं देखे;
'लहि कुंद कमलादिक पहुप' पूजा रचूं और हम चढ़ाते हैं पीले चावल;

'नाना विधि संयुक्त रस व्यंजन सरस' जासो पूजा रचूं और चढ़ाते क्या हैं खालिस गिरि;
'दीप प्रजाल कंचन के सुभाजन' कहकर रंगी हुई गिरि स्टील में रख कर पेश करते हैं;

किस का मन बहला रहे हैं आप, पूज्य का या पूजक का और इन विरोधाभासों को श्रावक पण्डित कहते हैं आगम सम्मत। यदि इन अवास्तविक वचनों से और क्रियाओं से आत्मा प्रसन्न होती हैं, सान्त्वना व शांति व संतोष मिलता है तो साधुओं की भांति साध्वियों का भी सत्कार चलते रहने दीजिए।

पुराने जिन पूजा संग्रहों में मुनियों के लिए आहार से पहले की जाने वाली अलग से पूजाएं हैं तो मेरे देखने में नहीं आई। आधुनिक पूजाएं हैं उनको रचते क्या देर लगती है! वे परम्परा की प्रमाण नहीं हो सकती, कम से कम आज तो नहीं।

जब शास्त्र यह कहते हैं कि -

(1) स्त्रियों के संयम नहीं हो सकता;

(2) स्त्रियों के ध्यान नहीं हो सकता क्योंकि ध्यान उत्तम संहनन के ही होता है;

(3) स्त्रियों के प्रव्रज्या (दीक्षा) नहीं हो सकती;

(4) दर्शन पाहुड़ (18) के हवाले से अवरट्ठियाणं का गलत अर्थ करके आर्यिकाओं का लिंग (पद) जघन्य बता रहे हैं, वह भी तब जब चतुर्विध संघ में उनका नम्बर दूसरा है। उनको दान के योग्य उत्तम उत्तम पात्र भी नहीं माना जाता।

- 215, मंदाकिनी एन्क्लेव, अलकनंदा
नई दिल्ली-110019

●●

भारतवर्ष और भरत

- कैलाश वाजपेयी

सत्य को छोड़कर यहां ऐसा कुछ भी तो नहीं जिसे पाने के लिए बेचैन हुआ जाए। उसे पाने उसे आत्मसात् करने के लिए, यह बिल्कुल आवश्यक नहीं कि कोई तीर्थ यात्रा की जाए या किसी मठाधीश के पास जाया जाए। क्योंकि वहां जो हो रहा है वह एक जड़, नियमबद्ध ड्रिल है और वहां जो महंत बैठा है वह निहायत फूहड़ तरह से गिनती के कुछ रटे हुए श्लोक दोहराकर आपको धमका रहा है इसका दान दो, एक भंडारा करो आदि-आदि। निस्संदेह यह मात्र दोहराना है और जिसे हम दोहराए चले जाते हैं वह सत्य नहीं होता उससे कोई सुवास नहीं उठती। सब महंत यही कर रहे हैं स्वयं तों स्वर्ग में पहुंचे ही हुए हैं और चेलों को भी आश्वासन दे रहे हैं कि एक मठ और बनवा दोगे तो मोक्ष का मार्ग और भी सुगम हो जाएगा। यह जो स्वर्ग पहुंचने की, अमर होने की अकुलाहट है। इस संदर्भ में एक बड़ी रोचक कहानी याद आ रही है।

अपने यहां चार महत्वपूर्ण पुरुप हुए हैं जिनका नाम भरत था। पहले भरत, ऋषभदेव के पुत्र थे। ऋषभ का नाम वैदिक और श्रमण दोनों परम्पराओं में आद्यंत मिलता है। दूसरे भरत थे श्रीराम के छोटे भाई। इन भरत जैसा आदर्श भाई दुनिया के इतिहास में दूसरा नहीं मिलता तीसरे भरत हुए दौष्यंति भरत जिनकी चर्चा महाकवि कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुंतल' में है और चौथे भरत हैं भरतमुनि, नाट्यशास्त्र के रचयिता। इनमें से किसी भरत के नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा, यह अनुसंधान का विषय है। जो कहानी हम कहने जा रहे हैं वह ऋषभ अर्थात् आदिनाथ के जीवन से संबद्ध है। वर्षों शासन कर चुकने के बाद ऋषभदेव के मन में वैराग्य उदित हुआ। उन्होंने वन गमन का मन बनाया और अपना राजसिंहासन अपने बड़े बेटे भरत को सौंपकर जंगल की राह

ली। भरत ने, अपने पुरुषार्थ से अपने राज्य की सीमा का विस्तार इतना अधिक कर लिया कि एक दिन वे भरत चक्रवर्ती के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

लाखों जीवयोनियां हैं। पृथ्वी पर आहार, निद्रा, मैथुन और भयग्रस्त, मगर अमर होने की बीमारी सिर्फ आदमियों में ही पाई जाती है। यह कुछ सोचने जैसा है कि मनुष्य में ऐसा क्या है जो उसे तमाम समझदारी के बावजूद, यह धोखा बार-बार दिया जाता है कि 'अमर होना तुम्हारा जन्मसिद्ध अधिकार है।' राजनीतिक रूप से दूसरे शब्दों में सत्ताधारी होने के बाद, अथवा धार्मिक रूप से अर्थात् मठाधीश बनने के बाद यही नहीं, समाजशास्त्रीय दृष्टि से भी कुछ - कुछ होने की, इतिहास में नाम दर्ज करवा पाने की, यह वासना की क्या अपने आप में आत्मवंचना नहीं है आदमी को क्यों यह नहीं लगता कि उसके होने न होने से उसके अस्तित्व पर कोई अंतर नहीं पड़ने वाला है। भरत चक्रवर्ती थे तो ज्ञानी, मगर एकाएक उनके मन में इन्द्रलोक में अधिष्ठित विशाल फलक पर स्वर्णाक्षरों में अपना नाम लिखवाने की इच्छा जागी तभी देवर्षि यानी ब्रह्मा के मानसपुत्र वहां आ गए। भरत चक्रवर्ती ने कहा कि, क्योंकि मैं चक्रवर्ती सम्राट् हूं और संभवत: पहला चक्रवर्ती सम्राट् इसलिए मैं इन्द्रलोक चलना चाहता हूं आपके साथ। देवर्षि ने जब पूछा तो भरत चक्रवर्ती ने उन्हें गर्व से अपनी इच्छा के विषय में भी बता दिया। देवर्षि ने उन्हें बहुतेरा समझाया कि इतना अपार है यह दिक्क्षेत्र जिसमें लाखों आकाश गंगाएं तितली की तरह फड़फड़ा रही हैं इन लाखों आकाश गंगाओं के अपने अपने करोड़ों सौर मंडल हैं अपना भी उन्हीं में से एक अदना सा सूर्य है दूसरे दर्जे का तारा। ऊपर कहीं गोलोक, द्युलोकादि हैं तब उन सबके नीचे इन्द्रलोक है। पृथ्वी भी ज्यादा से ज्यादा एक मटर के दाने की तरह अपनी ही कक्षा में घूमने के लिए अभिशप्त है। उस पृथ्वी के भी एक छोटे से टुकड़े पर आपका शासन है। तल, अतल, वितल, सुतल, तलातल और पाताल में से सिर्फ एक ही तल को एक खंड पर। चक्रवर्ती की उपाधि आपको देने कोई नहीं आया यह तो ऐसा ही है कि कोई सत्ताधीश या धनपुश जबरन अपने को विद्यावारिधि कहने लगे। तो राजन्! क्यों इस आत्मवंचना में पड़ते हैं। छोड़िए इस मिथ्याभिमान को। देवर्षि का इतना लंबा व्याख्यान सुनकर भरत चक्रवर्ती और अधिक अडिग स्वर में इंद्रलोक

चलने की जिद करने लगे। उन्होंने देवर्षि से कहा-बिना यह कार्य पूरा किए मैं संतप्त जीवन जिऊंगा। ब्रह्मा के मानसपुत्र ने फिर दोहराया भरत! इस जगतीतल पर मन का संताप और तन का संताप किसका, कब कहां मिटा है। फिर भी आप जिद करते हैं तो चलिए। देवर्षि और भरत चक्रवर्ती दोनों जब इंद्रलोक पहुंचे तो **भरत यह देखकर अवाक् रह गए कि उस भीमकाय, नामपट्टिका के फलक पर इतने नाम पहले से ही लिखे हुए थे कि वहां एक सूत भर भी जगह नहीं थी जहां भरत चक्रवर्ती अपना नाम लिखते। जबकि आए थे वे यह सोचकर कि वे पहले चक्रवर्ती सम्राट् हैं। भरत को उसी क्षण बोध हुआ और बोध के साथ ही वैराग्य।**

भारतवर्ष का नाम जिन भरत के नाम पर पड़ा है उसकी ओर कुछ संकेत अग्नि एवं मार्कण्डेयपुराण में मिलते हैं: उदाहरण के लिए अग्निपुराण में आया है -उस हिमवत् प्रदेश यानी भारत में बुढ़ापे और मृत्यु का भय नहीं था। धर्म-अधर्म दोनों नहीं थे। वहीं नाभि राजा के घर ऋषभ नामक एक पुत्र हुआ ऋषभ से भरत हुए। भरत के नाम से ही इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। (अग्निपुराण 10/10) या संदर्भ मार्कण्डेयपुराण से जो दूसरा उदाहरण है वह इस प्रकार है। आग्नीध्र-पुत्र नाभि से ऋषभ के सौ पुत्रों में भरत अग्रज था (ऋषभ के राज्य की राजधानी का नाम था विनीता)। समय आने पर ऋषभ ने अपने बड़े बेटे भरत का राज्याभिषेक किया और स्वयं संन्यास लेकर पुलह आश्रम में महातप किया। ऋषभ ने भरत को हिमवत् नाम दक्षिण-प्रदेश शासन के लिए दिया था अत: उस महात्मा भरत के नाम से ही इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। लगभग इसी से मिलता-जुलता वर्णन ब्रह्माण्डपुराण में भी मिलता है। राजा नाभि ने मरूदेवी से महाद्युतिवान् ऋषभ नाम के पुत्र को जन्म दिया। ऋषभदेव पार्थिव श्रेष्ठ और सब क्षत्रियों के पूर्वज थे। उनके सौ पुत्रों में भरत अग्रज थे जबकि बाहुबली कनिष्ठ। वृहदनारायणीय में भी इन्हीं भरत की चर्चा है। वृहदनारायणीय किस शती की कृति है यह अभी तक स्थिर नहीं हो सका हालांकि डॉ विल्सन इसे 16वीं शती का ग्रंथ मानते हैं। अलबेरुती यहां 11वीं शती में आया था उसने अपने यात्रा विवरण में इसका संदर्भ भी सम्मिलित किया है।

वह जिसे परावाणी या समाधि-भाषा कहा जाता है लगभग उसी उन्मनी स्थिति में अपने यहां आदिकवि से लेकर मीरा, रवीन्द्रनाथ तक उत्कृष्ट रचना हुई है। स्वयं वेद व्यास की कृति श्रीमद्‌भागवत भी इसी समाधि भाषा में है इन्हीं भरत का स्मरण करते हुए वेद व्यास लिखते हैं-

'येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठ गुणाश्रया'

श्रेष्ठ गुणों में आश्रयभूत, महागोयीग भरत अपने सौ भाइयों में ज्येष्ठ थे उन्हीं के नाम पर इस देश को भारतवर्ष कहते हैं।

हम पहले कह आए हैं कि ऋषभ इस देश की दोनों परम्पराओं ऋषि परम्परा एवं मुनि परम्परा दोनों में समानरूप से आदरणीय हैं। जिन अनुशासन का पालन करने वाले यदि उन्हें आदिनाथ कहते हैं तो कश्मीर के शैवदर्शन में उन्हें ही शिवरूप में माना गया है।

एकनाथी परम्परा में एक जगह यहां तक लिखा है : ऋषभ के पुत्र भरत ऐसे थे जिनकी कीर्ति सारे संसार में आश्चर्यजनक रूप मे फैली हुई थी। भरत सर्वपूज्य हैं। कार्य आरंभ करते समय भरत जी का नाम स्मरण किया जाता है।

श्रीमद्‌भागवत से प्रेरित होकर अनेक वैष्णव कवियों ने, मां सरस्वती की साधना की है। बल्लभाचार्य के शिष्य, महाकवि सूरदास ने श्रीमद्‌भागवत का प्रभाव स्वीकारा है। उसके पंचम स्कंध में ऋषभावतार का प्रसंग आया है जिसमें भारत और भारतखंड का उल्लेख इस प्रकार है।

बहुरो रिषभ बड़े जब भये, नाभि राज दै बन को गए
रिषभ राज परजा सुख पायो, जस ताको सब जग में छायो
रिषभ देव जब बन को गए, नवसुत नवौ खंड नृप भये
भरत को भरत-खंड को राव, करै सदा की धर्म अरु न्याव

उपर्युक्त तमाम उद्धरणों से अब लगभग यह स्पष्ट ही हो जाना चाहिए कि जिन भरत के नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष बड़ा वे भरत ऋषभ के ज्येष्ठ पुत्र थे और जन जन की श्रद्धा के शिखर बिंदु।

- हिन्दुस्तान दैनिक से साभार

●●